# समर्थ-जीवन-दर्शन

पंडित म० सु० कुलकर्णी

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२६ ए, चन्द्रलोक जवाहर नगर दिल्ली-६
बिक्री केन्द्र नई सड़क दिल्ली

प्रथम संस्करण
जनवरी १९६३

मूल्य
चार रुपए

# सादर समर्पण



परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीधर स्वामी

उन सभी महात्माओं के चरणों में जिन्होंने धर्म, राष्ट्र और समाज के
विभिन्न पक्षों को पोषित कर हिंदू समाज की [illegible]
में तथा सामूहिक विचार जीवन में परिवर्तित करके
भारतीय मानव के स्तर को ऊपर उठाया। प्रतीक
रूप में यह विनम्र सेवा मानव के साथ
समर्पित करते हुए संतोष की
प्राप्ति होती है।

# आशीर्वाद और संदेश

चमत्कार की सामर्थ्य को समर्थजी ने जाना था। इसीलिए उस शक्ति को उन्होंने पाया। अपने शिष्यों के जीवन में उसे उँडेल दिया जिससे धर्म के ध्वज को वे फहरा सके; आनन्द के साम्राज्य का निर्माण कर सके। परिणामस्वरूप मंगल-भाव से सारा प्रांत गूंज उठा। संतोष, शान्ति, शक्ति और भक्ति की सामर्थ्य से उन्होंने समूचे राष्ट्र का हित साधा। समाज को वैभव-संपन्न बनाया। हम भी उसी तरह, वैभव व सामर्थ्य से विभूषित हो अखिल विश्व में धर्म का झंडा फहराएँ। संपूर्ण जगत् में आनन्द के साम्राज्य का निर्माण करें। इसी शक्ति को पाने के लिए मैं समर्थजी से प्रार्थना करता हूँ और चाहता हूँ कि आप भी प्रार्थी बनें। मेरी यह मंगल कामना मानो आशीर्वाद ही है।

आप जानते हैं कि अनेक युगपुरुषों के बल पर भारतीयत्व की अनंत कड़ियाँ एक दूसरे में गुंथकर ऐसी मजबूत जंजीर बनी है कि वह तोड़ने पर भी नहीं टूट सकेगी। दैवी सामर्थ्य से ही यह जंजीर मजबूत बनी रही। यदि हम पाश्चात्य देशों की हाँ में हाँ मिलाना छोड़कर दैवी सामर्थ्य को पाएंगे तो निश्चय ही भारतवर्ष की कीर्ति में चार चाँद लगेंगे।

जो वीतरागी बनता है,
ज्ञान अनायास पाता है।

*सो आचरण की प्रधानता देकर विचारों के बवण्डर से मुक्त हो अपने आपको साधने की कोशिश कीजिए। कहने-सुनने की अपेक्षा हम आचरण-प्रधान बनकर अपने वैभव से पुन एक बार संपूर्ण विश्व में चमक उठें—यही मैं चाहता हूँ और आशीर्वाद भी देता हूँ।*

*—श्रीधर*

# भूमिका

का मार्मनिर्देशन करते हैं। इन्ही दूसरे प्रकार के संतों में समर्थ-स्वामी राम दास का स्थान है। समर्थजी की वाणियों में जहाँ हमें दर्शन अध्यात्म-तत्त्व चिंतन साधना भक्ति सृष्टि-क्रम सिद्धान्त-निरूपण ईश्वर-जगत् और जीव माया का विवेचन मिलता है वहीं दूसरी ओर राजनीति निरूपण काव्यकला लोकधर्म निरूपण चतुरों और मूर्खों के लक्षण लोगों के स्वभाव सदाचरिया कुमार्गों और मान्यवानों के लक्षण आदि विषयों पर उनके विचार भी प्राप्त होते हैं। इन विषयों को देखने से तो यही लगता है कि य परंपरागत बँधी बँधाई परिपाटी की चर्चा के प्रसंग हैं। परन्तु जब कोई व्यक्ति इन प्रसंगों को पढ़कर समर्थजी के अनुभव और विचारों से अवगत होता है तो उसे पता चलता है कि वास्तव में उन्होंने इन सभी विषयों को स्वानुभव में विचारा और देखा है और उनके अन्तर्गत बड़ा वास्तविक विवेचन मिलता है चाहे शास्त्रीय विषय हो चाहे सामाजिक जीवन का विषय हो। समर्थजी का विश्लेषण और विभिन्न विषयों का स्पष्टीकरण इतना स्वच्छ और स्पष्ट है कि सीधा हमारे मन और बुद्धि पर प्रभाव डालता है।

समर्थ स्वामी रामदास प्रसिद्ध महापुरुष महाराज शिवाजी के गुरु थे और सामान्यतः हम जितना छत्रपति शिवाजी और उनकी महानता को जानते हैं उतना स्वामीजी के गौरव को नहीं। परन्तु जो वास्तविकता से अवगत है उसे विदित होगा कि महाराज शिवाजी की उनका असली राष्ट्रीयता का रूप देने वाले और इस प्रकार राष्ट्रगुरु समर्थ स्वामी रामदास ही हैं। उन्होंने महाराज शिवाजी के भीतर उत्कृष्ट वीरता आदर्श त्याग साहस बलिदान आदि महान गुणों को जागृत किया। अनेक बार संकट और खतरों के अव सर पर तथा भय और दुविधा के समय में समर्थजी ने महाराज शिवाजी को मार्ग दिखाया और उनके मनस्स को दृढ़ता प्रदान की। यदि समर्थजी न होते तो शायद शिवाजी का चरित्र इससे कुछ भिन्न होता और इस प्रकार कहा जा सकता है कि यदि शिवाजी न होते तो समर्थजी का पर निष्ठावान व्यक्ति का अभाव खटकता और शायद वे अपने उत्तम प्रयास और समगार्मदिक भावना की पुकार को क्रियान्वित न कर सकते। दूसरे शब्दों में हम यह कह

है कि राष्ट्रनायक शिवाजी का व्यक्तित्व और चरित्र समर्थ स्वामी रामदासजी के बिना और समर्थजी का व्यक्तित्व और कृतित्व छत्रपति और शिवाजी के बिना अधूरा रहता। वे दोनों कृष्ण और अर्जुन के समान हैं जिनके एकत्र होने पर विजय निश्चय है जैसा कि गीता के अन्तर्गत संजय का वचन है कि

"यत्र योगेश्वरो कृष्णो तत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्री विजयोभूति ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

ऐसी दशा में समर्थजी के जीवन चरित्र और उनकी वाणी का प्रचार देश के कोने-कोने में आवश्यक है। महाराज शिवाजी का चरित्र आज भी हम राष्ट्र की रक्षा और उन्नति करने के लिए प्रबल प्रेरणा देता है परन्तु यदि हम उनके साथ-साथ उनको प्रेरणा देने वाले समर्थजी के चरित्र और वाणी से अनभिज्ञ रहते हैं तो वास्तविक तत्त्व से वंचित हैं। अतएव उनके चरित्र और उनकी वाणी का समग्र राष्ट्र में प्रचार करने के लिए उसका राष्ट्रभाषा में होना आवश्यक है जिससे हमारा समग्र राष्ट्र राष्ट्रनायक शिवाजी तथा राष्ट्रगुरु समर्थजी के कार्यों और विचारों से असीम शक्ति तथा प्रबल प्रेरणा प्राप्त कर सके।

सम्पन्न है। श्री कुलकर्णीजी ने राष्ट्रगुरु के समर्थ-जीवन चरित्र को राष्ट्र भाषा में अवतरित करके समग्र राष्ट्र के चरित्र-निर्माण एवं राष्ट्रीय एकता स्थापन की दिशा में एक अभिनंदनीय प्रयास किया है और मुझे विश्वास है कि इस ग्रंथ का देश के प्रत्येक भाग में समुचित स्वागत होगा। श्री कुलकर्णीजी हिन्दी के एक प्रसिद्ध लेखक हैं। अतएव हम आशा करते हैं कि उनकी लेखनी से राष्ट्र भाषा में और भी अनेक राष्ट्रीय महत्त्व के ग्रंथ प्रकट होंगे।

भगीरथ मिश्र
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
पूना विश्वविद्यालय
पूना-७

पूना
०८ १२ १९६२

# अनुसंधान

गमय मकता व कुछ मित्रों की प्ररणा पर मैंने समर्थजी के सम्पूर्ण ग्रंथो को और चरित्र तथा साध्य ग्रंथों को सतायास देखा। यों तो महाराष्ट्रीय होने के कारण बचपन में ही 'दासबोध' को पढ़ लिया था और समर्थजी के 'मनाबोध' के श्लोक। को कंठस्थ कर लिया था। इसके अतिरिक्त समर्थ शिष्य कल्याण स्वामी के आत्मीय एवं शिष्यत्व ढंग से सम्बन्धित होने के कारण शरीर और मन से मैं अपने आपको समर्थ शिष्य मानता भी रहा हूँ। समर्थजी का जन्म और कर्मस्थान भी कई बार देख चुका था। इतना ही नहीं अपितु इन्हीं सामाजिक अथवा राजनीतिक जीवन में किसी उलझन का अनुभव करने पर मनोबल को प्राप्त करने के लिए 'मनाबोध' के श्लोक गुनगुनाता रहता हूँ। इन सारी घटनाओं के कारण मैंने यह अनुभव किया कि हिन्दी साहित्यिकों को पर्याप्त मात्रा में समर्थजी के जीवन चरित्र से परिचित कराना होगा और फिर बाद में 'दासबोध' अथवा मनोबोध के अध्ययन से उनके जीवन विषयक दृष्टिकोण का यथार्थ परिचय होता नहीं है। इसलिए मैंने यह निश्चय किया कि उन मित्रों की सूचना को अमल में ला कर हिन्दी भाषा भाषी जनता को समर्थजी के उस महत्वपूर्ण ग्रंथ का ज्ञान कराया जाए कि जिससे समर्थजी के जीवन का स्पष्ट परिचय हो सके। यह प्रयास मैंने शुरू किया और आज उसको ... तथा ... करने के मार्ग सिद्ध हुआ।

... को बाधा का ... ... में ... ... मनोबोध में ... परिचय था। ... के कारण ... पर था ... का स्वभाव ... मैं पुस्तक का लिख डाला और ... ... में ... रहा।

... इतना ही ... ... समर्थजी के ... गया ...

विचारों से परिचित हों जो जीवन के संचालन में काम आ सकते हैं। जहाँ तक मेरा ख्याल है समर्थजी से सम्बन्धित उन समग्र विचारों के दोहन का सुन्दर निचोड़ मैं समुपस्थित कर रहा हूँ जिससे समर्थजी के जीवन चरित्र और अनेकविध कार्य का परिचय अनायास हो सके। भाषा और ढंग के बारे में एक अहिंदी प्रांत का हिंदी लेखक भला क्या शुद्ध लिख सकता है? विषय का यथोचित दर्शन ही मुख्य भूमिका मान अपने जीवन को समर्थ बनाने की प्रेरणा 'समर्थ-जीवन-दर्शन' के द्वारा आप प्राप्त कर सकेंगे यह उत्कट अभिलाषा व्यक्त करके दोष के लिए क्षमा याचना का प्रार्थी हूँ।

चरित्र ग्रंथ तो लिख चुका। परन्तु उसके नामाभिधान ने मन में बड़ी गड़बड़ी उत्पन्न कर दी। क्योंकि भारतवर्ष के ख्यातनाम देशभक्त संगठन प्रचारक साधु-संत गृहस्थों और समाज तथा राजनीति के क्षेत्र में पारंगत भी समर्थजी की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। प्रत्येक क्षेत्र का अधिकारी समर्थ जीवन चरित्र में उच्च कोटि के गुण पाता है। जो कुछ लोग राष्ट्रगुरु के स्वरूप में उन्हें देखते हैं कुछ लोग उन्हें जगद्गुरु मान भक्ति भाव से उनका हार्दिक स्वागत करते हैं कुछ लोग उन्हें युगपुरुष समझ अपना मस्तक उनके चरणों में झुका देते हैं कुछ लोग दार्शनिक के रूप में उन्हें पूजते हैं और कुछ लोग संगठनाशास्त्र के कलाकार समझ उनका गौरव गाते हैं। हिन्दुस्थान के ही नहीं अपितु पाश्चात्य देश के दार्शनिक भी समर्थजी का जीवन चरित्र पढ़कर अभिभूत हो उठे हैं। प्रमाण रूप में अनेक विद्वानों की सम्मतियाँ देकर समर्थजी के आदर्श जीवन-चरित्र को पुष्ट किया जा सकता है। परन्तु मेरी दृष्टि से यह प्रयास व्यर्थ है। क्योंकि सर्वसाधारण पाठक इन प्रमाणों को पढ़कर केवल यही कल्पना कर सकता है कि समर्थजी का जीवन चरित्र अलौकिक है। वस्तुतः प्रत्येक पाठक जब इस जीवन-चरित्र से अभिभूत हो उठेगा तभी ये प्रमाण उसके मन्तव्य की छाप प्रमाण बन सकेंगे। अन्यथा ये प्रमाण पुस्तक-वर्धन का कार्य ही कर सकेंगे। अतः समर्थजी के प्रति समाज की जो श्रद्धा है और जिस गृहस्थ-जीवन के माध्यम से उन्होंने राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक समस्याओं का शुभ

माया है उसी के प्रमाणभूत 'समय-जीवन-दर्शन' यह दीर्घकाल मैंने सर्वथा उचित और सार्थक माना है जो हर किसी क्षेत्र के व्यक्ति के जीवन में सामग्य भरने के लिए पुष्टि पेय साबित हो सके। औचित्य और यथार्थ के द्योतक हिन्दी भाषा भाषी हैं। वो भावनात्मक ऐक्य साधन के हेतु अहिंदी प्रांतों को अपने साथ मे जान मे प्रेम की ममता-कामना का अनुभव करते हैं व हा इस पुष्टि पेय के पान का यथोचित दर्शन करा सकते हैं।

समर्थजी का जीवन चरित्र सभी धर्म वर्ण एवं धर्म-अभिमानियो के लिए अनुकरणीय और अनुसरणीय इसलिए है कि वे स्वयं संसारी रहकर संसार भावना करते रहे इतना ही नहीं अपितु संसार साधना की यथार्थ विधि का ज्ञान कराकर उस विधि के अनुसार जीवन धारणा की उपासना में भारतीय समाज को उन्होंने प्रेरित किया। गृहस्थ-जीवन को सब चाहते है फिर वे किसी धर्म या पंथ के मानने और पूजने क्यों न हो। गृहस्थ जीवन से ही धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की साधना होती है—गृहस्थ जीवन ही ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार गुण-कर्म-गत वर्णों की रचना दृढ़ बनाए रहता है—गृहस्थ जीवन से ही ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्यास इन चार धर्मों का विधियुक्त पालन होता है—गृहस्था धर्म से ही षड्रिपुओं को (काम क्रोध लोभ मोह मत्सर व मद) अपने आधीन कर उन्हें सन्मार्ग की ओर मोड़ा जा सकता है और उनसे जीवन में सम्पन्नता लाई जाती है। इस जीवन-साधनाओं के सभी उपायों का चिंतन कर और उनकी उपयोगिता का ज्ञान सर्वप्रिय गृहस्थ जीवन का यथार्थ रूप समर्थजी ने दर्शाया। इसी से समर्थजी का जीवन सबके लिए आदरणीय और प्रिय बना है। समर्थजी ने इसी गृहस्थ जीवन का अपने द्वारा शिष्यों एवं मठों के द्वारा गुनगाया जो मराठा के समाज में और धर्माभिमानियों के आचार में उजड़ गया था। जिससे स्वाभाविक हो मराठी जनता समर्थजी की धार्मिक हुई और समर्थजी ने भी उनका अपने राज्य का धर्म साधना समाज-साधना और राज्य साधना में उन्हें योगदान। यहां भारत

कि वे भिन्न भिन्न प्रदेश की विपरीत अवस्था में भी स्वतंत्र समर्पणरत बना सकें।

अप्पाजी के इन्हीं भावों का उपासक होने के कारण प्रिय मित्र डा० मदनय ठाकर मावे की सूचना को मैं टाल न सका। उन्हीं की उत्कट इच्छा के अनुसार नारायण (रामदास-अप्पाजी) ने अपने जीवन को समर्थ क्यों कर बनाया, समर्थ जीवन किसे कहते हैं, समर्थ जीवन के योग कौन-कौन से हैं— इन बातों की खोजबीन में लगा। जो दर्शन मैंने पाया वह है समर्थ-जीवन दर्शन।

धन्यवाद

यह परम्परा हार्दिक है। हृदय ही इसे जानता है। जो हृदय की बात का दामन की कथा को मनुष्य होने के नाते मैं नहीं पा सका। इसीलिए उन सुहृदयों को अनायास हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने समर्थ की सेवा की सामर्थ्य मुझ में भर दी।

सर्वप्रथम डा० मावे इसलिए धन्यवाद के पात्र हैं कि उन्होंने ही मुझे इस दिशा में मोड़ दिया। श्री अमरेंद्र गाडगिल तो समर्थ की सहायता के लिए हमेशा तत्पर रहते हैं। चित्रकार भी धन्यवाद के पात्र हैं क्योंकि हृदय के भावों को चित्रों के द्वारा उन्होंने ही उभारा है। समर्थ की पुस्तक में जिन चित्रों का अंकन हुआ है वे चित्र श्री पतंगिरकर गुरुजी द्वारा बनवाए गए हैं जो उनकी कृपा से ज्यों के त्यों लिए गए हैं। अंत में 'किसी भी लेखक मित्र को हम असंतुष्ट नहीं होने देते' इस एकमात्र वाक्य से मेरे अनुभवी हृदय को जिन्होंने आकर्षित किया है वे मेरे मित्र मेघमल पब्लिशिंग हाउस के संचालक हैं। दरअसल मैं उनसे बिलकुल परिचित नहीं था। इस एक वाक्य से ही हम दोनों को एकत्रित कर दिया जिससे मैं पुस्तक के रूप में आपके सामने रखने की कोशिश कर सका। मेरे लिए ये सदा ही धन्यवाद के पात्र बने रहेंगे।

श्रीधर स्वामी का आशीर्वाद उनकी अपनी अनुग्रह श्रेष्ठता का फल है।

स्वामीजी की साधना चैतन्यगामी होने के कारण हमें स्वयं धन्य बनाती है। इस दशा में किस प्रकार धन्यवाद दूँ? शोभा भी तो नहीं देगा। लेकिन मेरा अपनी वाणी अथवा लेखनी के अतिरिक्त क्या कुछ दे सकता है इसीलिए हृदय कह उठता है—धन्यवाद।

श्रद्धेय डॉ० भगीरथजी मिश्र अध्यक्ष हिन्दी विभाग पूना विश्वविद्यालय का मैं आभारी हूँ। मुझे यह ज्ञात है कि डॉक्टर साहब अपने दैनिक कार्यों में इतने व्यस्त हैं कि किसी अन्य काम के लिए बड़ा मुश्किल से दस-बीस मिनट भी नहीं दे पाते हैं। इस अवस्था में जब मैं 'समर्थ-जीवन दर्शन' की भूमिका के लिए मैं गया तो उन्होंने बड़ी आत्मीयता से मेरे संकोच को दूर कर पुस्तक की समग्र जानकारी प्राप्त कर ली और मुझे आश्वस्त किया। इतना ही नहीं अपितु पुस्तक को समग्र पढ़कर सप्ताह के भीतर ही भूमिका भी लिख दी।

समर्थ-जीवन-दर्शन के लिए किसी समर्थ पुरुष की भूमिका मैं चाहता था। जीवन और साहित्य के साथ-साथ अध्ययन तथा अध्यापन के अभिन्न अंग का परिचय डॉक्टर साहब अपनी कार्य प्रणाली से दे चुके हैं। अतः समर्थ की भूमिका के आप सर्वथा पात्र हैं। आपकी भूमिका विषय ज्ञान की दृष्टि से भी अधिक उपादेय होगी। मेरी कठिनाई दूर हुई और हार्दिक इच्छा भी तृप्त हुई अतः डॉक्टर साहब का मैं अत्यन्त ऋणी हूँ। पानशेत का बाँध टूट जाने से घर की उलझनों ने उग्ररूप धारण किया जिससे पुस्तक के लिए अवसर पा सका। अतः उलझनें भी मेरे लिए धन्यवाद की पात्र बनी हैं।

१९८ नारायण पेठ
पूना २
१७ जौलाई सन् ६१ ई०
स्मृति म

म० दु० पुनतर्दो

# अनुक्रम



सत्य गुरु रामदासजी

# चरित्र-ग्रंथ का प्रयास

इतिहास के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि जीवन चरित्र लिखने की परम्परा आधुनिक युग तक प्रचलित नहीं थी। कथा पुराणों में देवी-देवताओं की लीलाओं का वर्णन हम अवश्य पाते हैं परन्तु उनसे न देवी-देवताओं के चरित्रों का संपूर्ण ज्ञान हमें होता है और न उन भगवद् भक्तों के चरित्रों की झलक मिलती है जिन्होंने कथा-पुराण लिखे हैं। धार्मिक ग्रंथों में अलौकिकता अद्भुतता और चमत्कारयुक्त कथाएँ भले ही हों परन्तु यह सत्य है कि भारतीय विचारों की श्रृंखला उनके द्वारा भी अविरुद्ध गति में चली आई है। रघुवंश अथवा हर्ष चरित आदि चरित्र-ग्रंथों से ज्ञात होता है कि मध्य युग में राजा महाराजाओं को भगवान का अंश या प्रतिनिधि समझकर उनके चरित्रों का चित्रण गद्य अथवा पद्य के रूप में किया गया था। इन चरित्र ग्रंथों से यही स्पष्ट होता है कि राजा-महाराजा प्रजा के हित में लगे थे और प्रजा भी राज-निष्ठ थी।

यों हमारा पूर्व इतिहास साधुओं, संतों, महापुरुषों और लोक नेताओं के चरित्रों से वंचित रहा। यही कारण है कि संसार की गतिविधि के साथ आगे बढ़ने में उन महात्माओं के चरित्रों से समुचित मार्गदर्शन न पाने के कारण हमारा सामूहिक जीवन रुक-रुककर आगे बढ़ता रहा। फलस्वरूप कालिदास, तुलसीदास ज्ञाने-

इत्यादि महाभागों के समग्र जीवन चरित्रों से हम गतिशील मार्गदर्शन न पा सके। यह सत्य है कि कही-सुनी और कुछ देखी पढ़ी बातों के आधार पर भारतीय जीवन अपने संस्कारों के अनुसार निर्मित होता रहा, और समय-असमय उसमें उतार चढ़ाव भी दीख पड़ा। परन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि भारतीय जीवन वृक्ष में कोई विशेष परिवर्तन न हो सका उसके भरण-पोषण में परिवर्तन भले ही हुआ हो।

हमारे सद्भाग्य से समर्थ रामदासजी के जीवनकाल में यह अवस्था नहीं रही। समर्थजी ने जो रचनाएँ की हैं उनसे और फिर उनके शिष्यों द्वारा लिखित समर्थ विषयक टिप्पणियों से समर्थजी का संपूर्ण जीवन-चरित्र आज हमारे सामने है। शिष्यों द्वारा लिखित सात चरित्र-ग्रंथों एवं टिप्पणियों में हेर-फेर भले ही दिखाई देता हो परन्तु मूल जीवन-विषयक आदर्शों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण मतभेद नहीं है। शिवाजी और समर्थजी का साक्षात्कार कब और कैसे हुआ? समर्थजी ने शिष्यों महंतों और मठों की स्थापना क्योंकर, कहाँ-कहाँ और कैसे की? आदि अनेक बातों में तर्क-वितर्क कर चरित्र के अनेक भाष्यकारों ने समर्थ चरित्र का साधार विवेचन किया है जो लगभग बीस आधुनिक ग्रंथों में पाया जाता है। सत्श्री शंकर श्रीकृष्णदेव ने तो पचास वर्ष समर्थ चरित्र और कार्य के अनुसंधान में खर्च कर समर्थजी के संपूर्ण जीवन के विभिन्न अंगों को प्रकाशित किया है। आधुनिक ग्रंथकारों में 'केसरी' के भूतपूर्व संपादक स्व० ज० स० करंदीकर, स० स० आळतेकर ने अधिकारपूर्ण वाणी से समर्थजी के जीवन क्रम का सापेक्ष विवेचन करके जो भाष्य पाठकों के सामने समुपस्थित किया

है यह सर्वथा विचारप्रधान और प्रासादिक सिद्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त स्वर्गीय प्रो० माटे ने रामदासजी के विचारों का मंथन कर उनके विचार-सागर का प्रत्यक्ष दर्शन ही पाठकों को कराया है। सर्वश्री न० र० फाटक, गो० नि० दाण्डेकर आदि विद्वान साहित्यकारों ने भी रामदासजी के जीवन के दर्शन अपने अपने चरित्र ग्रंथों द्वारा कराये हैं। रामदासजी के जीवन-काल से महाराष्ट्र में संतों महंतों एवं वीर पुरुषों के चरित्र-ग्रंथ लिखने की परम्परा प्रारम्भ हुई है। यह भी रामदासजी के जीवन का एक प्रसाद ही माना जाता है, जिसके कारण भारतीय एवं महाराष्ट्रीय जीवन प्रतिबिंबित होता रहा है। फिर रामदासजी का जीवन चरित्र जीवन के विभिन्न अंगों को स्पर्श करने वाला होने के कारण महत्वपूर्ण तथा समाज के सभी स्तरों के लिए मार्गदर्शक रूप होने से अनुकरणीय भी है।

चेतना भरे लोगों में
कीर्तिरूप है समर्थों की
कार्य समर्थ उपाधि तब
विवेक बल उपासना से ॥

—दासबोध समास १८

रामदासजी के आदर्श जीवन का अगर कोई रहस्य है, तो वह उपरोक्त पंक्तियों में पाया जाता है। आदर्श जीवन चरित्र का गठन का जो ठोस परिमाण रामदासजी के जीवन में पाया जाता है वह एक युगपुरुष में ही हो सकता है। परन्तु आज तक जिन युगपुरुषों का आदर्श हमने अपने सामने रखा और जिसके अनुसार हम अपना जीवन बिताते हैं उन युगपुरुषों के आदर्श को ही हम

जानते हैं। उस आदर्श को पाने का प्रत्यक्ष प्रमाण ढूंढने पर भी नहीं मिलता। साथ ही साथ उस आदर्श की ओर बढ़ते हुए सामने आने वाली अड़चनों से भी हम अनभिज्ञ रहते हैं। इस अवस्था में अपनी अनुभूतियों को ही प्रमाण मान हमें आगे बढ़ना पड़ता है। समर्थजी का चरित्र इन सारी कठिनाइयों का निवारण करने के लिए समर्थ है। क्योंकि जीवन के विभिन्न पहलुओं को उन्होंने अपने आचरण से सुलझाने के मार्ग बतलाये हैं। सामान्य से सामान्य जीव भी अपने अपने कर्मगत साधना के शास्त्रीय रूप को प्राप्त कर, अपने जीवन को सुखी बनाकर मोक्ष का अधिकारी किस प्रकार बन सकता है इसका विवेचन समर्थजी ने किया है।

यह सत्य है कि जीवन छोटा हो या बड़ा हो परन्तु उसमें, किसी स्वरूप में क्यों न हो, कुछ-न-कुछ भेद अवश्य पाया जाता है। उस भेद को जाना-पहचाना गया और उसे समाजमुखी बनाया गया तो सामान्य कहा जाने वाला आदमी दार्शनिक भी बन सकता है। इस प्रयास के लिए व्यक्तिगत सम्पर्क बढ़ाकर जीवन निर्वाह की चिन्ता जिस महापुरुष में होती है वह महापुरुष युगपुरुष कहलाता है। अर्थात् यह कार्य शक्ति-सम्पन्नता और तप-प्रधानता के बल से ही किया जा सकता है। जीवन के साथ समूहों को गतिविधि देने वाला चरित्र आदर्श चरित्र—समर्थ-चरित्र—होता है। इसी प्रकार के चरित्र-निर्माण का प्रयास चरित्र-ग्रन्थों द्वारा होना चाहिए। हमें विश्वास है कि हमारा यह प्रयास मानवोचित उन सभी गुणों का पोषण कर, दुर्गुणों का परिहार कर हर किसी के जीवन में अभ्युदय और मोक्ष की साधना में सामर्थ्य भरने का काम करेगा। फिर चाहे किसी भी आदर्श पर चलने वाला मनुष्य

क्यों न हो। पर उस आदर्श की प्राप्ति के सभी उपायों को वह इस प्रयास के द्वारा जान सकता है।

दूसरों के सुख-दुःख की चिन्ता करो, दूसरों के सुख से सुखी और दुःख से दुःखी बनो, दूसरों के दुःख निवारण में स्वयं दुःख उठाओ, सुख के मार्ग को और दुःख के निवारण को जानकर उसे दूसरों के हित में बरतो, साम, दाम, दण्ड और भेद के रहस्यों को जानकर कल्याण-साधना में लग जाओ। समूह के कारण व्यक्ति का अस्तित्व स्थित होता है और व्यक्ति के कारण समाज बनता है। इस भूमिका को आत्मसात बनाओ, त्याग के लिए भोग भोगो, भोग के साधनों को जुटाओ, जुटने पर उनके आधीन मत बनो। कार्य छोटा हो अथवा बड़ा परन्तु उससे धर्म-साधना हो इस बात का ध्यान रखो, व्यक्ति और समूह के हित चरित्र-निर्माण का प्रयास हो—यही ममपजी के जीवन चरित्र का आदर्श है और चरित्र-प्रेम का प्रयास है। वह कहता है—

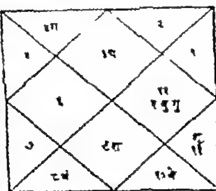
उत्कट सभ्यता को पुन सँवारे
    बीरतता को पूर्ण त्यागे,
निस्पृहता से विख्यात बने
    जगत को इस भूमि में॥
कर्मठता पर बने स्वयं
    फिर सीखे उपदेश को
आधार विचार से जावे तर
    इस पार से उस पार॥
उपासना का आश्रय ले
    बिन उपासना व्यर्थ जावे
जब प्रगति साथ पावे
    उपासना बिन क्या पूजा॥ —रामशेष

# अद्भुत् बालक

सूर्याजी पंत नामी एक व्रतधारी पंडित मराठवाड़े के औरंगाबाद जिले में जांब जैसे एक छोटे ग्राम में धार्मिक जीवनयापन करते थे। योग देने में राणूबाई की साझेदारी सराहनीय थी। अतः पति-पत्नी का जीवन आनन्दपूर्ण था। चिन्ता केवल संतान की थी। फिर भी अपने धर्मनिष्ठ जीवन में वे किसी प्रकार की त्रुटि का अनुभव न करते थे। सूर्योपासना उनके कुल का नियम था। उपासना रूप बारह सौ दंड लगाने में वे किसी प्रकार न चूकते थे। एक बार सूर्यनारायण स्वरूप किसी तपस्वी अतिथि का भक्ति-भाव अंतःकरण से आतिथ्य करने के बाद वे अतिथि बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने वर मांगने के लिए कहा। 'हम भाग्यवंत वर नहीं चाहते, कृपा करके कुछ देना ही चाहते हों तो भागवतधर्मी एक संतान का वर दीजिये।' दोनों ने एक मुख होकर ब्राह्मण देवता से वर मांगा। सूर्यनारायण स्वरूप ब्राह्मण देवता ने भी उन दोनों के मनोभावों को जानकर यह वर दिया कि आपको दो पुत्रों की प्राप्ति होगी जिनमें से एक भागवतधर्मीय होगा और वह वंश-विस्तार करेगा। दूसरा हनुमानजी का अंश होगा जो हनुमान के समान भारतीय धर्म के विस्तार में अपना संपूर्ण जीवनयापन करेगा। ठीक ऐसा ही हुआ। एक वर्ष के अन्दर अन्दर एक बालक ने राणूबाई की गोद की शोभा बढ़ा दी। उसका

नाम गंगाधर रखा गया। और जब दूसरे बालक ने राणूबाई की गोद को सुशोभित किया तो उसका शुभ नाम नारायण रखा गया। इसलिए कि सूर्याजी पंत सूर्यदेव के उपासक थे। और सूर्यनारायण स्वरूप ब्राह्मण देवता ने जो वर दिया था उसी के फलस्वरूप यह बालक था। यही हमारे चरितनायक हैं।

रामदासजी ने चैत्र शुक्ल ९ ठीक दोपहर के समय शके १५३० अर्थात सन् १६०८ को जन्म पाया। रामदासजी की जन्मकुण्डली इस प्रकार है



शके १५३० कीलकनाम संवत्सरे चैत्र शुद्ध नवम्यां तिथौ इंदु वासरे सूर्योदयात घटि १५ पल ७ एतस्मिन दिने मध्याह्ने काले जामदग्नि गोत्रोत्पन्न सूर्याजीपंत ठोसर सो भाग्यवति राणूबाई नाम्नि भार्या नारायण नामानं पुत्र प्रासूत। शुभं भवतु।

यह जन्मकुण्डली यहां इसलिए दी गई है कि ज्योतिष शास्त्रज्ञ रामदासजी के ज्योतिष को जान सकें। अगर इनका रवि उच्चस्थस्थ होता तो यह निश्चय ही राज्यपद देता। रामदासजी ने भारत का गुरुपद और महाराष्ट्र का स्वामित्व जो पाया है, उसका मुख्य कारण लग्न का रवि गुरु गृह में स्थित है।

जब रामदासजी की सूर्याजी पंत ने यह जन्मकुण्डली दिखाई तो वह अवाक् रह गया। उसने कहा कि यह बालक ११ वर्षों तक

हनुमानजी के समान सवार कर राममक्ति के महत्त्व को बढ़ाते हुए रामराज्य के निर्माण में अपना जीवन व्यतीत करेगा।

समय बचपन से ही बड़े नटखट थे। जब उन्होंने आँगन में पैर रखा तो उनके बारे में शिकायतें शुरू हुईं। माता-पिता चिंता करने लगे। दीवारों पर चढ़ने का अभ्यास पूर्ण होने के बाद समर्थजी वृक्षारोहण की तैयारी में लग गये। खेलकूद में किसी से पराजित होना वे अपनी शान के विरुद्ध मानते थे। अर्थात् किसी के शरारत करने पर उसकी मरम्मत करने में वे जरा भी आनाकानी न करते थे। हाँ यदि कोई सज्जनता बरतता तो समर्थ के समान उसकी हिमायत करने वाला भी कोई न होता। पाँचवें वर्ष में विधान के अनुसार उनका व्रतबन्ध हुआ और सचमुच वे व्रतधारी बन गये। जब उनकी शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भ हुई तब ग्यारह पाठों में पुस्तकीय ज्ञान पाया ग्यारह घटों में सुवाच्य अक्षर के अभ्यस्त हुए और ग्यारह पहरों में आय-व्यय का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर वंशागत पटवारगीरी के अधिकार को सम्पन्न बनाने की क्षमता प्राप्त कर ली। ब्रह्मकर्म और संस्कृत भाषा के भी वे ज्ञाता बने।

जब उन्होंने दसवें वर्ष में पदार्पण किया तो संगी-साथियों ने उनको अपना मुखिया बनाया। स्वभावतः उनका बहुत-सा समय खेलकूद की भेंट होने लगा। समर्थजी की इस प्रवृत्ति को देखकर उनकी माता ने एक बार कहा, "बेटा, घर-बार की कुछ चिन्ता किया करो। चौबीसों घंटे खेलकूद में व्यस्त रहना उचित नहीं है।" माता का यह कथन सुनकर समर्थजी अन्तरमुख हो एक अंधेरे कमरे में चिन्ता का चिंतन करने में व्यग्र हुए। सुबह आठ बजे से लेकर रात्रि के दस बजे तक जब समर्थ कहीं दिखाई न दिए तब

उनकी खोज शुरू हुई। बड़े भैया ने समर्थजी के मित्रों छोटे-बड़े पेड़ों और मन्दिरों तथा पास-पड़ोस के घरों में समर्थजी को ढूँढा। पर कहीं पता न चला। समर्थजी की सामर्थ्य का पता होने पर भी माता का हृदय पुत्र के खो जाने पर व्यथित हो उठा। वह मन मरी-सी घर के घर में ही इधर-उधर दौड़-धूप करने लगी। संयोग वश उस अंधेरे कमरे में जाने पर समर्थजी को उसने पाया। जब माताजी ने यह पूछा कि यहाँ बैठे-बिठाये क्या कर रहे हो तब समर्थ जी बोले, "विश्व का चिन्तन"। समर्थजी के टके-से इस उत्तर को पाकर माता निरुत्तर हो गई। समर्थजी मिल गये तो घर भर को शान्ति मिल गई। चिन्ता दूर हो गई।

धीरे-धीरे समर्थजी का चिन्तन तीव्र रूप धारण करने लगा। उनके पिताजी सूर्योपासना के रूप में एक हजार दंड लगाते थे समर्थजी ने हजार दंड लगाने लगे। प्रातःकाल में मग्न भगवत् आराधना की अवधि भी बढ़ गई। अर्थात् गमना-घूमना बन्द हो गया। परन्तु उनको भगवत्-पूजन में अपना सारा समय लगाते और घर के काम-काज में उनसे किसी प्रकार की सहायता न मिलती देखकर माता पुनः चिन्ता में डूब गई। उसने कहा, "बेटा भगवत्-पूजन से घर-बार नहीं चलता। घर-बार को चलाने के लिए अनाज की आवश्यकता होती है। अनाज को प्राप्त करने के लिए कष्ट उठाने पड़ते हैं।"

माताजी की यह बात सुनकर समर्थजी ने पग छूये, हरे भरे खेतों का पर्यटन किया। धन-धान्य से भरे-पूरे किसी एक खेत को देखने के बाद वे वहाँ रुके और बात की बात में ज्वारी के बड़े भार को एक झटके में उठाकर और अपनी टाँगों या पीठ

घर लाकर घर में आये। समर्थजी की इस सामर्थ्य को देखकर घर वाले दर्शक और कृषक भी आश्चर्य चकित रह गए। क्योंकि ज्वारी से भरा बोरा तगड़े से तगड़ा जवान भी एक झटके में उठा न पाता था। समर्थजी के अद्भुत साहस को देख कर माता ने यह निश्चय किया कि घर-बार के बारे में अब इससे कुछ न कहूँगी।

एक बार घर पर किसी समारोह के आयोजन में ब्रह्मभोज का प्रबन्ध हुआ। समारोह की सारी तैयारियाँ हो चुकी थीं। केवल छाछ का प्रबन्ध बाकी था। जब समर्थजी ने पहले दिन यह जाना तब रात ही रात में कुम्हारों के घर से मटके लेकर दिन निकलने के पहले घर घर जाकर छाछ माँग लाये और छाछ के मटकों से उन्होंने भंडार भर दिया। जब माता ने सुबह भंडारभर छाछ से भरा-पूरा देखा तब उसने अनुभव किया कि किसी बात की चिन्ता करना व्यर्थ है। एक तो समर्थजी के सामर्थ्य को वह जान चुकी थी और घर के कारण समर्थजी को किसी प्रकार की पीड़ा न हो इस धारणा ने उसके मन में घर कर लिया था। अतः मन-ही-मन चिंतित रहने लगी कि नारायण अर्थात् समर्थ किसी प्रकार विरागी न हो जाए।

सन् १६१३ में केवल पाँच वर्ष की आयु में समर्थजी उपनयन संस्कारों से युक्त किए गए। सन् १४ में उनके बड़े भैया विवाह बंध कराए गए और सन् १५ में सूर्याजी पंत ने संसार से बिदा ली। स्वभावतः पितृत्व का भार बड़े भैया गंगाधर पंतजी के सिर पर आ पड़ा। वे भी केवल तेरह वर्ष के निरे बालक थे। फिर भी समर्थजी के बड़े भैया होने के कारण बुद्धिमानी में किसी प्रकार कम नहीं थे। पिताजी के अनुसार ही वे घर का काम-काज देखने लगे।

सूर्याजी पंत अपनी सात्विक और व्रतनिष्ठ प्रवृत्ति के कारण उस इलाके में मशहूर थे। इसलिए अनेक व्यक्ति उनके पास जीवन का मार्गदर्शन पाने के हेतु आते थे और अनुग्रह प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बनाते थे। सूर्याजी पंत के गोलोकवास के बाद भी वे भक्तिभाव से आते रहे और बालक गंगाधर पंत योग्यता के अनुसार उन्हें अनुग्रह देकर सम्पन्न बनाते रहे। सर्वसामान्य रीति से उन दिनों लोगों की यह धारणा थी कि गुरुमंत्र पाये बिना मोक्ष का द्वार नहीं खुलता। लोगों की यह दृढ़ भावना आत्मसाक्षात्कार का काम दे सकती थी। मन चंगा होने से कठौती में गंगा का अनुभव कर अपने चंगे मन के विस्तार में वे गुरुमंत्र की महत्ता को विशेष महत्त्व देते थे। ग्यारह वर्षीय रामजी ने भी गुरुमंत्र के लिए भैया से हठ किया। भैया बोले, "तुम अभी छोटे हो इसलिए गुरुमंत्र पाने के अधिकारी नहीं बन सकते।" बड़े भैया का यह कहना सुनकर समर्थजी क्रोधित हुए और हनुमानजी के मन्दिर में जा हनुमानजी के चरणों से लिपट कर उन्होंने अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा हनुमानजी को सुनाई, "जब तक प्रभु रामचन्द्रजी से मैं गुरुमंत्र प्राप्त न करूँगा तब तक अपनी लिपट न छोड़ूँ न मान लूँगा।" आठ की रात थी। पास में कपड़े नहीं थे। पेट खाली था। फिर भी अपनी लगन में वे चुप-चुप रोये हनुमानजी के चरणों में लिपटे पड़े रहे।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।

भगवद्गीता के इस वचन के अनुसार तथा हृदयस्थ नारायण के जाग उठने के बाद समर्थजी ने उस रात प्रभु रामचन्द्रजी से

लगा। गंगाधर पंत 'सावधान' की प्रतिज्ञा को जानते थे इसलिए उसके इस प्रकार पालन होने पर उनमें समर्थजी के प्रति भस्या दर की भावना जाग उठी। बेचारे बाराती और रिश्तेदार इस 'सावधान' में कुछ तो सावधान हुए और कुछ सुध-बुध खोए बैठे रहे। जो सावधान हुए उन्होंने समर्थजी की सामर्थ्य को जाना और जिनकी सुध-बुध खो गई वे समर्थजी को असमर्थ कहने लगे।

# योग साधना

रामदासजी ने ठीक विवाह के समय पर भागने की योजना पहले ही बना रखी थी। यद्यपि जांब या आसपास गांव के अतिरिक्त किसी प्रदेश को उन्होंने नहीं देखा था परन्तु उन्हें यह मालूम था कि कृष्णा नदी गोदावरी से जहाँ मिलती है वहीं आस-पास कहीं प्रभु रामचन्द्र की तपस्या भूमि पंचवटी है। इसलिए कृष्णा नदी के किनारे से होते हुए वे कृष्णा और गोदावरी के संगम तक दौड़ते ही रहे। लगभग दो सौ मील का रास्ता तय करते समय उनकी सहायता केवल 'श्री राम जय राम जय जय राम' ने ही की। तन पर कपड़े नहीं थे। पैरों में जूते नहीं थे। सिर पर पगड़ी नहीं थी। पास में न खाद्य-सामग्री थी और न पैसा था। धोती और अंग वस्त्र जो ब्राह्मण वर का पोशाक होती है बस उन्हीं वस्त्रों में नासिक के पंचवटी पहुँचे। जब प्रभु रामचन्द्रजी के दर्शन उन्होंने पाए तब वहाँ [illegible] का अनुनय उन्होंने किया। प्रभु रामचन्द्रजी के दर्शन-मात्र से भूख-प्यास और थकान जाने कहाँ भाग गई। दोपहर को गोदावरी में नहाकर प्रभु रामचन्द्रजी की भक्तिभाव से पूजा करने के बाद पूरा दिन मौन रखा और ध्यान पर प्रभु रामचन्द्रजी का [illegible] भगवान को [illegible] स्वयं भोजन किया।

रामदासजी की आयु उस समय केवल बारह वर्ष की थी। [illegible]

भी प्रभु रामचन्द्रजी के सिवा अपने सुख-दुख की बातें किसी से नहीं करते थे। इसीलिए उन्होंने किन संकटों का किस प्रकार मुकाबला किया इस बात का विवरण उनके उपलब्ध जीवन चरित्रों में नहीं पाया जाता। उन्होंने दासबोध, करुणाष्टक आदि जो काव्य-ग्रंथ लिखे हैं उन्हींके आधार पर उनके चरित्र ग्रंथों का निर्माण हुआ है। उन्हीं काव्य-ग्रंथों से यह स्पष्ट होता है कि जब वे वहाँ पहुँचे तब तपश्चर्या के लिए गोदावरी का जल निवास के लिए पर्वतीय गुहा, भिक्षा के लिए पड़ोसी ग्राम टाकळी और अध्ययन के लिए नासिक शहर का राममन्दिर तथा अध्ययन और निवास के लिए स्थान और कार्यक्रम निश्चित किया। सुबह उठकर स्नान-संध्या के बाद लगभग पाँच घंटे प्रभु रामचन्द्रजी को पूजा चढ़ाकर वे कमर तक गोदावरी के मगजल में जप करते थे। जब दोपहरी होती तो पड़ोस के टाकळी गाँव में जाकर भिक्षा माँगते और पर्वतीय गुहा में पहुँचकर खाना पकाने के बाद तीन बजे प्रभु रामचन्द्रजी को नैवेद्य चढ़ाते और स्वयं भोजन पाते। तीन से लेकर छः तक एकनाथी भागवत, उपनिषद ग्रंथ ज्ञानेश्वरी गीता वेद आदि धर्म-ग्रंथों का अध्ययन एवं चिन्तन करते थे। छः से लेकर दस बजे तक नासिक के राममन्दिर में कथापुराण सुनते और रात को ग्यारह बजे अपनी गुहा में जाकर रामचिंतन के बाद विश्राम पाते। इस दैनिक कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए उन्हें रोजाना पंद्रह बीस का चक्कर लगाना पड़ता था। जल में जप करते हुए वे जब खड़े रहते तो अनेकों जलचर उनके पर घुटने टखने पोटरियाँ जाँघें नोच-नोचकर खाते थे। परन्तु समर्थजी इस तपस्या में जरा भी झुकाव छिपाव से काम न

सहते थे। यहाँ तक कि पैरों में अनेक घाव हो जाने और उनके सड़ जाने पर भी उन्होंने अपनी तपस्या भंग न होने दी। इसके अतिरिक्त इतनी छोटी-सी उम्र में इस प्रकार घोर तपस्या करते हुए देख अनेक लोग उनके बारे में सशंक हुए।



तपस्या

कुछ लोग कहने लगे चोर होगा। कुछ कहने लगे हत्यारा होगा। कुछ कहने लगे नम्बर एक का झूठा होगा इसीलिए तो यह स्वांग लिए हुए है।' ऐसी बातें कहकर तपस्वी को छेड़ने

एव सताने में भी कुछ लोगों ने कोर-कसर बाकी न रखी। परन्तु झुंझलाहट तो क्या अप्रसन्नता के भाव भी समर्थजी के चेहरे पर प्रकट न होते थे। वे अगर किसी बात की रट लगाते थे तो प्रभु रामचन्द्रजी के आशीष की। और यह रट भी उपासना के अवसर पर ही रहती थी। तपश्चर्या, कीर्तन, पुराण-कथा अथवा ब्रह्मकर्म के अवसर पर वे इस भाव को मन में भी नहीं लाते थे।

इस प्रकार बारह वर्ष समर्थजी ने योग साधना की। अपने नियोजित कार्य को किसी प्रकार खंडित नहीं होने दिया। लोग भी जी में आता वह कहते और रोड़े अटकाते रह गए। अपने शरीर को मजबूत बनाने के लिए समर्थजी प्रतिदिन दो हजार दंड लगाते थे। उनकी धारणा थी कि शरीर-बल के बिना मनोबल नहीं बढ़ता। मनोबल को बढ़ाने के लिए यम, नियम और संयम की उन्होंने शरण ली। उन्हें विश्वास था कि मनोबल के बिना आत्मबल नहीं बढ़ता। इसीलिए मन को आघात प्रत्याघात के परिणाम से बचाते रहे। उन्हें इस बात का भी भरोसा था कि जब आत्मबल बढ़ जाएगा तब प्रभु रामचन्द्रजी से साक्षात्कार होगा और साक्षात्कार के बाद शेष जीवन समाज या राष्ट्र-कार्य के लिए उपयुक्त बन सकेगा। इसीलिए जाड़ा, गरमी और बरसात की भी उन्होंने परवाह न की। शरीर को मन को और आत्मा को अपने अपने ढंग से तपाते रहे।

जिस प्रकार समर्थजी को प्रकृति से उलझना पड़ा उसी प्रकार समाज के साथ-साथ शरीर और मन से भी उलझना पड़ा। परन्तु आत्मबल की प्रचुरता के कारण वे इन सारी उलझनों को सुलझाते चले गए। अन्त में जब तेरह करोड़ मंत्र-जप

पूर्ण हुआ और भारी तपन आनन्द में परिणत होने लगी तब उन्हें विश्वास हुआ कि प्रभु रामचन्द्र की ही कृपा है। अब वे निश्चय ही दर्शन देंगे। एक दिन जब वे नासिक के राम-मंदिर में राम चिन्तन कर रहे थे तो प्रभु रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी और सीतामाई के साथ दर्शन दे कृपा कर उन्हें 'दास' की उपाधि दी। समर्थ, समय धन्य।

'दास' इस उपाधि का स्वयं प्रभु रामचन्द्रजी के द्वारा प्राप्त करने में समर्थजी को महान प्रसन्नता हुई। इस उपाधि से उन्होंने अपने को भूषित किया। वे स्वयं को 'रामदास' कहते थे और यह लिखा भी करते थे। उन्होंने अपने परिबोध या चरित्र-ग्रंथ को जो 'दासबोध' नाम दिया है वह इसी भूमिका का प्रमाण है।

उपाधि के साथ-साथ उन्होंने प्रभु रामचन्द्रजी से भारत भ्रमण की भी आज्ञा पाई। और दीन की अवस्था का स्वयं ज्ञान कर उसकी पीड़ा को दूर करने के भाव भी जागे।

प्रभु रामचन्द्रजी की यह आज्ञा या यों कहिए आत्म ज्ञान का यह दर्शन समर्थजी किसी स्वरूप में टाल नहीं सकते थे। इस आज्ञा के लिए ही मानो समर्थजी ने योग साधना की। अथवा प्रभु रामचन्द्रजी ने उनकी योग साधना देखकर उन्हें योग्य पुरुष जान यह आज्ञा दी। किंवा जनता जनार्दन की दयनीय अवस्था को देख यह चेतना उन्हें हुई। कुछ भी हो परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि घोर तपस्या का फल उन्होंने पाया।

योग की सर्व-सम्मत परिभाषा सामंजस्य है। जो काम हम उठाते हैं उस काम को सफल बनाने के हेतु मन, प्रकृति में धार्मिक मानसिक और शारीरिक लगन से बरती जाने वाली क्रिया को ही

योग अथवा सामंजस्य कहा जाता है। परंतु आजकल योग शब्द का प्रयोग केवल धर्म की भूमि को व्यक्त करने के लिए ही किया जाता है। परन्तु यह प्रयोग उचित परिभाषा के रूप में नहीं होता। योग शब्द में जो गांभीर्य है, जो विस्तार है, वह सामंजस्य इस परिभाषा में अपने आप व्यक्त होता है। सामंजस्य का अंग्रजी रूप अॅडजस्टमेंट है। सो निर्धारित काम में बरती जाने वाली साम दाम दण्ड और भेद की नीति इसी अर्थ में ग्राह्य मानी जाती है यदि वह सत् प्रवृत्त हो। इन्हीं भावों का दर्शन योग के द्वारा होने से योग शब्द का प्रयोग किया गया है।

समर्थजी ने जो आज्ञा प्रभु रामचन्द्रजी से पाई उसके मूल में योग साधना ही मुख्य रूप से है। भविष्यत् जीवन में उन्होंने धर्म जागृति और राष्ट्र-जागृति कर स्वधर्म और स्वराज्य की नींव जमाई। यह कार्य भी योग साधना के बल पर ही हो सका।

## योग साधना नीति

शुद्ध उपासना शुद्ध भाव।
वीतराग भी ब्राह्मण्य स्वभाव ॥
गुरु परम्परा का शुद्ध लक्षण शुद्ध मार्ग ॥

—दासबोध

यह स्पष्ट है कि समर्थ रामदासजी कर्म-मार्गी थे। उनका यह कहना था और वे स्वयं अन्त तक इसी भूमिका के आधार पर चले कि मनुष्य को अंत तक कर्म करना चाहिए। उनकी यह धारणा थी कि हर व्यक्ति को कर्म-मार्ग से ही उपासना करनी चाहिए। जिससे ज्ञान प्राप्ति होती है और अनन्तर मोक्ष का लाभ होता है। समर्थजी की इस भूमिका के अनुसार यह स्पष्ट होता

है कि भारतीय जो कर्म करेगा वह सर्वोदयी है। परन्तु केवल सर्वोदयी कर्म से ही काम नहीं बनेगा वरन् उसे उपासना में भी अपनी शुद्धता को बनाए रखना चाहिए। अर्थात् उसकी यह धारणा बननी चाहिए कि बिना किसी माँग के उपासना करनी है। अगर अनासक्ति से उपासना करेगा तो शुद्ध ज्ञान को वह पा सकेगा। जब शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति उसे होगी तब वह वीतरागी हो जाएगा और वह्य की रक्षा का भार उसके जिम्मे होगा। अर्थात् सद्प्रवृत्ति की रक्षा कर असद्प्रवृत्ति का विनाश समता भाव से और शुद्ध आचरण से उसे करना चाहिए। समयजी ने उपासना और ज्ञान को स्पष्ट करने के लिए 'शुद्ध' विशेषण का उपयोग किया है परन्तु वीतराग अवस्था को पुष्टि देने के लिए किसी खास विशेषण का प्रयोग नहीं किया है। वीतरागी के लिए उन्होंने अन्यत्र यह स्पष्ट रूप में लिखा है कि जब तक मन वीतरागी नहीं बनता तब तक केवल शरीर को सर्वसंग परित्यागी बनाने से कोई लाभ नहीं होगा। जो वीतरागी केवल शरीर का प्रदर्शन करते हैं उन्हें समयजी ने खूब फटकारा है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

भगवद्गीता में इस श्लोक का लक्ष्य करके ही समयजी ब्राह्मण शब्द का प्रयोग करते रहे। मानो शमदमादि षड्गुणों का जिसमें निवास है और जो सात्विक प्रवृत्ति से ब्रह्म ज्ञानाधिष्ठित शुद्ध कर्म आचरता है उसीमें ब्राह्मण्य पाया जाता है। इस ब्राह्मण्य की रक्षा करने के लिए जिस शुद्ध कर्म का आश्रय समयजी ने लिया है वह कर्मयोग का विशेषता को ही स्पष्ट करता है। ब्राह्मण्य

की रक्षा होनी चाहिए फिर चाहे वह साम से हो, दाम से हो दण्ड से हो अथवा भेद से हो। समर्थजी की यह नीति उनके अपने सम्प्रदाय की विशेष नीति है। यद्यपि यह नीति धर्म-सम्मत है परन्तु इस नीति का समत्व बुद्धि से परिपालन बहुत कम अवसरों पर होता है। खासकर पंथ पक्ष या सम्प्रदाय का पक्षपात इस नीति को बरतने नहीं देता। समर्थजी ने गृहस्थी धर्म से लेकर निवृत्ति धर्म तक की उपासना में इसी नीति का अवलम्बन किया। कर्म उपासना ज्ञान वैराग्य और ब्राह्मण्य की आराधना में इसी नीति—शुद्धकर्म अथवा योग साधना से समर्थजी ने काम लिया। उनके इस योग में न आलस्य के लिए स्थान था न द्वेष बुद्धि को आश्रय था। शुद्ध भाव से भगवत् चरणों पर समर्पित करने के हेतु ही कर्मवाद का चरितार्थ धर्म ग्राह्य है—यह समर्थजी की विशेष भूमिका थी। इस प्रकार के आचरण का आग्रही वही बन सकता है जो आत्मानुभूति से अपने आपको स्वयं परिमार्जित करता है। योग साधना करने वालों से उनका कहना है—

जो अन्याय से बचाता है, जानता है न्याय अन्याय का
लोक समझी तब बनता है, नीति न्याय से चलकर
जानो मूढ़ ममता से जो काम कराए सर्वदा
ज्ञानी वह बनता है तब उपयोगिता जानने पर
वही धर्म है भगवान का जिसे मिले बचपन में
समता से देखे जब निराशी, तापी लोगों को
कर्म से उपासना राखे राखे वैराग्य आदरे
अनुभूति से ज्ञान राखे परामर्श विचार से
काल पाश बांधता है, हरिकथा निश्चय की
सात्त्विकों ज्ञानियों को भी अपनी ज्ञान सदा रहे

लोक ज्ञान है जो ज्ञानी बंधनों से विमुक्त कर
आपके हित लोगों का ज्ञानी पावन बन सके।

—दासबोध

समर्थजी ने यह ब्रह्मज्ञान केवल योग-साधकों के लिए ही कहा है। सर्वसाधारण जनता के लिए उसकी अवस्थाओं के अनुरूप समर्थजी ने योग साधना का मार्ग बतलाया है। यहाँ उसका उल्लेख अप्रस्तुत है। योग साधना की यह भूमिका स्पष्ट रूप में हमें यह बतलाती है कि भगवान के दरबार में अन्याय और पीड़ा के बंधनों से जो मुक्ति दिलाता है वही योगी है—ज्ञानी है और भगवद्भक्त है।

# योग साधना का फल

आत्म-साक्षात्कार भारतीय सभ्यता की सर्वश्रेष्ठ देन है जो केवल योगियों और साधु-संन्यासियों के लिए ही नहीं अपितु सर्व सामान्य जनता के लिए उसके उद्यम-व्यापार में भी प्रयोग की जा सकती है। जब किसी विशेष कार्य का हम रात-दिन चिंतन करते हैं तब वह कार्य बनकर ही रहता है। अर्थात् उसके बनने-बिगड़ने का भार लगन पर अवलंबित होता है। लगन में जितने परिमाण में एकाग्रता होती है उतने परिमाण में उस लगन का फल हम पाते हैं। कल्प कीजिए 'अद्य यावत शिल्पकला गृह' का बोर्ड टांगकर हमने दूकान लगा दी और नाम के अनुसार हम अपनी कला का जौहर दिखाने लगे तो ग्राहक के साथ-साथ धन और धन के साथ-साथ कीर्ति को हम अनायास पा सकते हैं। यहाँ तक कि श्रेष्ठ कलाकार भी हम सिद्ध हो सकते हैं। केवल ईमानदारी तन्मयता निपुणता समय की पाबंदी आदि गुणों को हमें अपनाना चाहिए। ठीक यही बात आत्म-साक्षात्कार की है। जिस प्रकार तपस्या के योग से हम आत्म अर्थात् भगवान से साक्षात्कार कर सकते हैं उसी प्रकार उद्यम योग की भी बात है। अतः साक्षात्कार कोई अनहोनी घटना नहीं है।

जब समर्थजी की जन्मभूमि जांब गाँव में प्रभु रामचन्द्रजी ने उनको दर्शन देकर 'श्री राम जय राम जय जय राम' का मंत्र

अपने का अनुग्रह किया तब समर्थजी को उसी समय प्रेरणा हुई कि हनुमानजी के समान मैं समाज एवं राष्ट्र का उद्धार कर राम-राज्य का निर्माण करूँगा। इसी धारणा के अनुसार साक्षात्कार के अवसर पर समर्थजी को नासिक में प्रभु रामचन्द्रजी ने 'दास' की उपाधि देकर गौरवान्वित किया। यों भी कहिए कि उन्होंने रामराज्य की स्थापना का प्रण प्रभु रामचन्द्रजी के सम्मुख किया। 'यदा यदा हि धर्मस्य' इस गीता-वचन के अनुसार उन्हें यह विश्वास था कि धर्म का उद्धार करने के लिए क्षत्रिय-कुल में भगवान जीवन धारण करेंगे।

समर्थजी ने उस समय यह अनुभव किया था कि हिन्दुओं पर मुसलमानों के द्वारा अकथनीय अत्याचार होता है। साथ-साथ उन्होंने यह भी देखा था कि धर्म के अनुसार बरतने की क्षमता हिन्दुओं में अब नहीं रही। सारा का सारा हिन्दू-समाज डरपोक बन धर्म से विमुख हो व अज्ञान में लीन है। इसी कालावधि में नासिक स्थान पर शिवाजी के पिता शहाजी राजा समर्थजी से मिले। उन्होंने भी समर्थजी की उग्र तपश्चर्या का चित्र सुना था। शहाजी राजा जागीरदार या बीजापुर दरबार के आश्रित जरूर ही थे परन्तु शुद्ध धार्मिक प्रवृत्ति के थे। क्योंकि धन-दौलत, पद अथवा मान-सम्मान से प्रभावित अथवा सुखी जनता की अपेक्षा वे हमेशा दुःखी रहते थे। उन्होंने भी यह देखा था और यहाँ तक कि अनुभव भी किया था कि सारा हिन्दू-समाज मुसलमान लोगों के अत्याचार से त्रस्त है। केवल हिन्दू जाति में जन्म लेने के कारण उनके साथ किया जाने वाला गुलामी दुर्व्यवहार असह्य है।

हिन्दू जाति की दयनीय दशा और उनके साथ होने वाले अत्याचारों को देखकर महाजी राजा हमेशा उद्विग्न रहते थे। हिन्दुओं की दयनीय दशा से भी वे घृणा करते थे। क्योंकि हिन्दू जाति अधार्मिक हो गई थी। यद्यपि वे हिन्दुओं के हिमायती थे। अपनी परिसीमा के अंतरगत किसी हिन्दू को पीड़ा पहुँचते देख उसकी पीड़ा को वे तुरन्त दूर करते थे। फिर भी केवल हिन्दू होने के कारण उन्हें जो सताया जाता था वह सर्वथा अक्षम्य अमानवीय होने से उसके नाश की चिंता में वे हमेशा व्यग्र रहते थे। हिन्दुओं की असहायता का परिणाम अपने बाल-बच्चों पर न हो इसलिए उन्होंने अपने बाल-बच्चों को सतारा जिले की अपनी जागीर के स्वतंत्र वातावरण में रखा था। उन्हें इस बात का भी विश्वास था कि धर्म की जागृति के बिना हिन्दू जाति सजग नहीं हो सकती और किसी अवतारी पुरुष के बिना धर्म जागृति नहीं हो सकती। मुस्लिम शासकों के दुर्व्यवहारों एवं अगणित अत्याचारों को देखकर उन्हें विश्वास हो गया था कि निश्चय ही अब भगवान अवतार धारण कर धर्म की जागृति करेंगे। क्योंकि अन्याय की इति तब होती है जब वह अपनी सीमा को पार कर जाता है। महाजी राजा भोसले स्वभावतः धार्मिक प्रकृति के थे। धार्मिक आदर्शों पर उनका विश्वास था। इसीलिए धर्म की जागृति करने वाले साधु-संतों के प्रति उनके हृदय में असीम श्रद्धा अनुभूति थी। जब उन्होंने नासिक में समर्थजी से साक्षात्कार किया तब उनको विश्वास हुआ कि हो न हो समर्थजी निश्चय ही धर्म की जागृति में योग देने की सामर्थ्य लिए हुए हैं—इस लिए समर्थजी से एकांत में मिलकर उन्होंने विचार-मंथन किया।

बातचीत के क्रम में समर्थजी ने इस बात को भी जान लिया कि शहाजी राजा भोंसले एक पुत्र रत्न के जनक हो चुके हैं जिसका शुभ नाम शिवाजी है। और वह अपनी जागीर में—राजगढ़ दुर्ग के स्वतन्त्र वातावरण में—हिन्दू धर्म के अनुसार शिक्षा-दीक्षा ग्रहण कर रहा है। इस समाचार को सुनकर समर्थजी बहुत प्रसन्न हुए। शहाजी राजा भोंसले की इच्छा के अनुसार समर्थजी ने यह भी स्वीकार किया कि मैं शिवाजी को अनुग्रह दूंगा।

समर्थजी और शहाजी राजा भोंसले की यह भेंट मानो योग साधना का एक फल ही है। दोनों में वैचारिक साम्य था और दोनों ही राष्ट्रप्रेमी थे। इन दोनों की यह भेंट ही आगे चलकर स्वधर्म और स्वराज्य निर्माण के लिए साधक बनी।

इन दिनों से पहले की बात है, गोदावरी नदी के किनारे समर्थजी पूर्णगढ़ आदि स्थानों में मौन ध्यानस्थ बैठे थे। सामने से अग्निहोत्री गंगाधर पंत की अरथी गुजर रही थी। पतिव्रत का माहात्म्य अनन्यसाधारण रूप प्राप्त हो इस भावना से उनकी धर्मपत्नी अन्नपूर्णा बाई भी सतीधर्म का पालन करने के हेतु सजधज कर साथ हो गई थी। गोदावरी के किनारे जब उसने समर्थजी को ध्यानस्थ देखा तब सहगमन के पूर्व तपस्वी के दर्शन करके अपने को पुनीत बनाने के हेतु वह समर्थजी के चरणों में नत हुई। समर्थजी ने अनदेखे ही आशीष दे दिया

"अष्टपुत्रा सौभाग्यवती भव!"

"इस जन्म में या अगले में?"

अन्नपूर्णा बाई के इस वाक्य को सुनकर समर्थजी ने वस्तु स्थिति को जान लिया और दृढ़ता से कहा "प्रभु रामचन्द्रजी के

दरबार में 'आज नकद और कल उधार' यह नीति नहीं है।' यह कहकर समर्थजी ने 'श्रीराम जय राम जय जय राम' का मंत्र पढ़कर मंत्राभिषिक्त जल का शव पर सिंचन किया। जैसे ही



प्राण-दान

सिंचन हुआ वैसे ही 'राम राम' का उद्घोष कर गंगाधर पंत मानो जाग उठे। यह देख लोग आश्चर्यचकित हुए। परन्तु समर्थजी ने गम्भीर होकर कहा, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। सद्वासना का फल सदा अच्छा ही होता है। अगर तुम अपनी कृतज्ञता का अनुभव करते हो तो रामराज्य का निर्माण करने के

हेतु आठ पुत्रों में से किसी एक पुत्र को सौंप दो। जब अन्नपूर्णा बाई ने प्रथम पुत्र को जन्म दिया तब उसे समर्थजी की आज्ञा के अनुसार उनको सौंप दिया, जिसका नाम उद्धव था जो समर्थजी के महंतों में से एक दिग्विजयी महंत बना। समर्थजी ने अनुभव किया—

प्रभु रामचन्द्रजी के शिष्य की ओर अब इस भूमण्डल में आंख-भौं चढ़ाकर देखने का साहस कोई न कर सकेगा। प्रभु रामचन्द्रजी का 'दास' बनकर अब मैं पावन हो गया हूं। जब तक जनता की पीड़ा को मैं दूर न करूंगा तब तक अपने को समर्थ न समझूंगा। मुझे विश्वास है कि प्रभु रामचन्द्रजी का दास न पतित बन सकता है और न पतन को देख सकता है क्योंकि दास बनने के कारण स्वयमेव वह पावन बन जाता है।

—दासबोध

यों तो योग साधना के अनेक फल समर्थजी ने पाये परन्तु लौकिक दृष्टि से क्षत्रिय-वंश में जन्म लेने वाले हिन्दुओं के एक समय हितैषी को पाया और गंगाधर पंतजी को प्राणदान देने से सम्पूर्ण समाज में आदर का स्थान प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त सम्प्रदाय का प्रचार करने के हेतु उद्धव स्वामी को भी प्राप्त किया। शरीर के द्वारा मन, मन के द्वारा आत्मा और आत्मा के द्वारा प्रभु रामचन्द्रजी की जो कृपा पाई वह समर्थजी के जीवन में जीवन भरने वाली थी, इससे कुछ ही दिनों में समर्थजी की कीर्ति सर्वत्र फैल गई।

कुछ तार्किकों के हृदय में कल्पित एक भ्रांत शंका घेरा कर सकती है कि मृत गंगाधर पंतजी केवल मंत्राभिमंत्रित जल-सिंचन करने पर जीवित कैसे हो गए? यह प्रश्न स्वाभाविक भी है।

परन्तु पाठक यह जान लें कि गंगाधर पंत अग्निहोत्री थे। यम, नियम और संयम से अपना जीवन बिताते थे। अर्थात् इच्छा शक्ति उनमें अटूट थी। जब उनके हाथ-पैर ढीले पड़ गए और लोगों ने विश्वास कर लिया कि वे चल बसे हैं तब उन्हें उसी अवस्था में अरथी पर डालकर ले जा रहे थे। संभव है कि पंच प्राणेन्द्रिय उनके शरीर में उस समय भी रह गई हो। उन दिनों न दवाखाने थे और न डाक्टर। अतः यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि वे मर चुके थे? जब समर्थजी ने अभिमंत्रित जल से सींचा तब शरीर की ग्लानि दूर हुई होगी पंचप्राणों ने शरीर में शक्ति भर दी होगी और वे जीवित उठे होंगे।

इस तरह की अनेक घटनाएँ हम आज भी देख सकते हैं। डाक्टर के जवाब दे देने पर अपने मनोबल या आत्मबल के कारण अनेक बीमार भले चंगे बने हम पा सकेंगे। अतः गंगाधर पंत का जाग उठना अलौकिक घटना भले ही हो पर मानसशास्त्र की दृष्टि से यह पंचप्राणों का स्वाभाविक धर्म है। अस्तु।

यह बात सिद्ध है कि समर्थजी की तपस्या का प्रभाव सर्वत्र छा गया और लोग उन्हें योगी समझ उनकी शरण में आए। इतना ही नहीं उनके दर्शन मात्र से अपने को कृतार्थ भी समझने लगे जिसके कारण समर्थजी भविष्यत् के कार्य को जमाने में सफल हो सके।

१

# कर्म-साधना के पथ पर

जो आंदोलन करता है स्वयं
सामर्थ्य भरता है जहाँ तहाँ
जोश लाता पतित पावन
धर्म के बल बनता है वह ॥

—रामदास

प्रभु रामचन्द्रजी के द्वारा 'दास' उपाधि प्राप्त करने के बाद समर्थजी को सामर्थ्य की अनुभूति हुई। उन्हें विश्वास हुआ कि दुनिया की कोई भौतिक शक्ति अब मुझे पराजित नहीं कर सकती। अब मुझे केवल हनुमान बनना है। बिना हनुमान बने दास्यत्व का कारण अत्याचार का सामना, धर्म की प्रस्थापना आदि उपायों को ढूंढ़ना आवश्यक है। वे स्वयं तपस्या की कालावधि में समाज की धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को जान चुके थे। और फिर राजा शहाजी भोंसले के द्वारा भी वस्तुस्थिति को उन्होंने जान लिया था। इसके अतिरिक्त शिवाजी राजा भी बहुत छोटे थे जिनके द्वारा महाराष्ट्र धर्म की प्रस्थापना करनी थी। अतः निदान हो चुकने पर भी योग्य उपाय के बिना बीमारी दूर नहीं हो सकती। इन सब बातों को सोचकर वे तीर्थाटन के निमित्त परिभ्रमण के लिए निकले। जहाँ बारह वर्ष बिताए थे उस पंचवटी के पवित्र स्थान का त्याग करते हुए उन्हें दुःख हुआ। पंचवटी में आयुष्यमान में जो प्रभु रामचन्द्रजी

के सन्निकट थे—विलग होते हुए उन्हें क्लेश हुआ। इसके प्रति रिक्त धर्मपूर्णा से प्राप्त शिष्य उद्धव का भी भार उन पर था। वह अब पाँच-छ वर्ष का हो चुका था। वह्न-नियम के अनुसार उसका व्रतबंध संस्कार भी समर्थजी कर चुके थे। संस्कारों के कारण पूर्ण रूप से विरागी बनने पर भी वह समर्थजी के सान्निध्य को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। तीर्थाटन की सारी विपदाओं को सहने के लिए वह तैयार था। परन्तु उसके प्रेम भरे निग्रह को निभाना सर्वथा अनुचित था। इसलिए उसकी इच्छा के अनुसार समर्थजी ने उसे अनुग्रहीत किया और आराधना के लिए उसे हनुमानजी की एक मूर्ति दी जो गोबर से बनाई गई थी। तब कहीं गुसाई उद्धव प्रसन्न हुए और लौटने तक उस मूर्ति की उपासना ब्रह्मकर्म जप-जाप्य एवं अध्ययन-अध्यापन का अभिवचन उनसे समर्थजी पा सके। गुसाईं उद्धव को अनुग्रह देकर, शिष्य बनाकर और हनुमानजी की प्रस्थापना कर समर्थजी ने अपनी कर्म-साधना का प्रथम खंड पूर्ण किया।

कृष्णा और गोदावरी के मध्य प्रदेश को जो महाराष्ट्र का परिचायक है अपनी तपस्या से अभिभूत कर समर्थजी ने भारत भ्रमण के लिए पंचवटी से प्रस्थान किया। अर्थात् गिरि शिखरों उपजाऊ खेतों हरे भरे उद्यानों एवं साधुसंतों की इस मंगल भूमि से बिछुड़ते हुए उन्होंने यह निश्चय किया कि कहाँ कैसे और क्यों जाना है। इतना ही नहीं अपितु जहाँ जाना है वहाँ की अवस्था का परिज्ञान प्राप्त करके क्या करना होगा इस बात को भी उन्होंने सोचा था। उन्होंने तय किया था कि भिक्षा के बहाने हर कहीं जाया जा सकता है। भिक्षा के निमित्त हर किसी को यह-

जाना जा सकता है। शिक्षा के कारण हर किसी की परीक्षा ली जा सकती है। और उत्तीर्ण परीक्षार्थी को धर्म का सुयोग्य-साथी बनाया जा सकता है। शरीरबल से हो, मनोबल से हो, धनबल से हो अथवा अर्थबल से हो—वे सारे के सारे धर्मसंगी समाज एवं राष्ट्र के उद्धार में काम आ सकते हैं। इतना ही नहीं उनमें जो गुण दिखाई देंगे उनको भी मोड़कर देशहित में लगाया जा सकता है। इसीलिए शिक्षा का कार्यक्रम उन्होंने निश्चित किया। दूसरा कार्यक्रम बनाया तीर्थाटन का। जिससे अनेक नगरों, शहरों, व्यापार-उद्योगों एवं सामाजिक, धार्मिक समस्याओं को परखा जा सकता है। और उपयुक्त स्थानों पर कार्यक्रम कार्यान्वित किया जा सकता है।

समर्थ रामदासजी ने भारतवर्ष के प्रमुख धर्म-स्थानों तीर्थ-स्थानों के अतिरिक्त लगभग दस हजार गाँवों में भी अपना सम्पर्क स्थापित किया। कहीं उन्हें दो दिन रहना पड़ा तो कहीं छः महीने बिताने पड़े। तीर्थ-स्थानों में वे स्वभावतः अधिक दिन रमते रहे। हर स्थान पर कीर्तन के बाद उस स्थान के सुयोग्य पुरुषों को उन्होंने चुना और उनकी योग्यता के अनुसार अपने-अपने व्यवसाय के साथ धर्म, समाज और देश-राष्ट्र में लग जाने के लिए उनका मार्गदर्शन किया। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यह सारा दीर्घोद्योग समर्थश्री ने स्वयं किया और गुप्त रूप से किया। इस कार्य में उन्हें बारह वर्ष कठिन परिश्रम करना पड़ा। धर्म की कट्टरता, जाति की उच्चता अथवा वर्ग की श्रेष्ठता को उन्होंने महत्त्व नहीं दिया। स्वतंत्रता, स्वधर्मता और स्व-समाजता के हित को ही अपना लक्ष्य मानकर उनके संगठन में हर किसी




तीर्थ-यात्रा के प्रमुख स्थान जहाँ समर्थजी ने अपना विशेष संपर्क स्थापित किया

स योग पाने की कल्पना का उन्होंने आश्रय लिया। इसीलिए व राष्ट्रगुरु और धर्मगुरु बन सके। भारत भ्रमण के अवसर पर उन्होंने देखा

(१) पर उपदेश कुशल बहुतरों का बाजार गर्म है।

(२) धर्म की कट्टरता सम्पूर्ण रीति से लुप्त हो चुकी है।

(३) मान-सम्मान की भावना नहीं रही।

(४) हिन्दुओं पर दिनदहाड़े अत्याचार किए जाते हैं।

(५) हिन्दू स्त्रियाँ खुले आम अपहृत और बेइज्जत होती हैं फिर भी कोई अपने को अपमानित नहीं मानता।

(६) हिन्दू मन्दिरों को भ्रष्ट कर उनका रूपांतर मसजिदों में किया गया है।

(७) हिन्दू जाति पतित पीड़ित एवं मृतवत हो गई है।

(८) प्रमाद से बीमारियों ने समाज को अपना शिकार बना रखा है।

(९) न किसी में उत्साह बाकी है न कुछ करने-धरने का साहस बाकी है।

(१०) अधिकतर हिन्दू गुलामी के पदों को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं और उससे अपने को भूषित कर गौरवान्वित मानते हैं।

(११) एक दूसरे के प्रति न विश्वास है न सहानुभूति।

(१२) गुण-ग्राहकता में सारी जनता मग्न है।

(१३) अपने ही भाइयों को नीचा दिखाकर उनसे घृणा करने में ही बहादुरी का अनुभव किया जाता है।

(१४) उद्यम प्रियता नष्ट हो रही है। धर्माचरण लुप्त हुआ है।

(१२) कलह, दुःख और दरिद्रता का राज्य सर्वत्र फैला है।

हिन्दू समाज की यह दुर्दशा देखकर समर्थजी तिलमिला उठे परन्तु केवल नाक-भौं चढ़ाने से आंसू बहाने से अथवा उपदेश सुनाने से किसी प्रकार का लाभ होने की सम्भावना नहीं थी। फिर भी उन्होंने क्रोध के मारे यह कहा

"इस अवस्था में आमूलाग्र परिवर्तन करने के हेतु या तो मर जाना चाहिए अथवा इस परिस्थिति के निर्माताओं को मार डालना चाहिए। बद्तर दशा में जीवित रहने की अपेक्षा मर जाना लाख दरजे बेहतर है। जो भी कुछ हो या तो हम जीवित रहें या मर जाएं परन्तु इस अवस्था में नहीं जिया जा सकता है।"

समर्थजी की यह विचारधारा उचित हो या अनुचित हो परन्तु उनके हृदय की पीड़ा को—जो जनताव के रूप को देखकर हो रही थी—स्पष्ट करती है। इसी पीड़ा ने उनके हृदय में आग जला दी और यही आग उन्होंने समाज और देश में फैलाई—भड़काई। उन्हें यह विश्वास था कि चिनगारी भी भड़काने पर आग का रूप धारण करती है। इसी मूल भावना की जड़ पकड़कर उन्होंने हिन्दू समाज की विपन्न अवस्था को बढ़ा-चढ़ाकर दिग्दर्शित किया। जिसके कारण झुंझलाहट और प्रतिशोध की भावना हिन्दू समाज में उग्र रूप धारण करने लगी। परन्तु हिन्दू धर्म की विशाल, उदार और सर्वसंग्राहक भूमिका को किसी प्रकार आंच न लगे इस बात को उन्होंने आँखों से ओझल नहीं होने दिया।

वे यह जानते थे कि हिन्दू धर्म वटवृक्ष के बीज की भाँति है। वटवृक्ष की शाखाएँ भले ही टूट फूट जाएँ, उसके पत्त भले ही

सूख जाएँ, उसका तना भले ही नष्ट बने परन्तु उसके बीज जो इधर-उधर बिखर पड़े हैं हजारों वृक्षों का रूप धारण करके पुनः छा सकते हैं और अपनी छाँह से सारे वातावरण को हरा भरा बना सकते हैं। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी सोचने में सर्व-संग्राहकता को न भूलना चाहिए। उपयुक्त खाद भूमि पानी और हवा की उसे आवश्यकता होती है। ठीक यही बात धर्म-साधना की है। धर्म-साधना के बल पर हिन्दू धर्म-रूपी विशाल वृक्ष छायादार बनाया जा सकता है।

व्यक्ति और समाज की दयनीय दशा को दूर करने के लिए जिस प्रकार व्यक्ति के धर्म को बनाए रखने की आवश्यकता होती है उसी प्रकार स्वराज्य के बिना यह धर्म टिक नहीं सकता और उसे टिकाए रखने के लिए स्वधर्म के पालन की नितान्त आवश्यकता होती है। मतलब यह है कि धर्म-संस्थापना के बिना समाज जीवित नहीं रह सकता। और समाज के बिना व्यक्ति का व्यक्तित्व स्थायी नहीं बन सकता। इसलिए व्यक्ति समाज देश और धर्म जागृति का कार्य उन्होंने एक साथ शुरू किया। इस व्यावहारिक अनुसन्धान के अनुसार उन्होंने धर्म-स्थापना का पहला कदम उठाया।

उन्होंने अनुभव किया कि अगर शुद्ध भाव से धर्मभूमि पर आंदोलन किया गया तो जन-जागृति हो सकती है और जन-जागृति से जनता अपनी शक्ति को प्राप्त कर सकती है। जन-जागृति के अनेक अंगों का पोषण करके जो जनता में शक्ति भरता है वह निश्चय ही पतित-पावन अर्थात् भाग्य का दाता हो सकता है। इस उद्देश्य के लिए—

प्रथम हरिकथा निरूपण ।
द्वितीय राजनीति जाण ॥
तृतीय सावधानता ।
सर्व भूत हित रख की ॥

—दासबोध

समूचे भारतवर्ष का भ्रमण कर हिन्दुओं की जो दयनीय दशा समर्थजी ने देखी उसके निवारण में यह मार्ग उन्होंने निश्चित किया जो प्रत्येक युग में और प्रत्येक अवस्था में बरता जा सकता है। भगवान के दरबार में भय को स्थान नहीं होता। जो डर पोक हैं वे भगवद् भक्त नहीं बन सकते। निर्भय होकर धर्मभूमि से जो चलता है वह अभय पाता है। धर्मभूमि के आधार पर ही सब प्राणियों के हित की चिन्ता की जा सकती है और यह चिंता ही सर्वप्राणियों को राजनीति से संलग्न बनाकर राज्य क्रांति का बीज बो सकती है। धार्मिक क्रांति के बिना राज्य क्रांति असम्भव है और राज्य क्रांति के बिना सारे प्राणियों का हित नहीं साधा जा सकता। इन्हीं विचारों को दृढ़ बनाकर कर्म-साधना के पथ पर समर्थजी ने अपना पहला कदम जमाया। इस कदम के अनुसार चलते हुए समर्थ रामदासजी ने जो सामर्थ्य पाई है उसे अतथ्य कहने वाले महानुभाव प्रत्यक्ष महाराष्ट्र में भी कुछ कम नहीं हैं। कुछ सज्जनों का यह कहना है कि राजनीति से प्रत्यक्ष संबन्ध समर्थजी का था नहीं। क्योंकि किसी लड़ाई में उन्होंने प्रत्यक्ष हिस्सा नहीं लिया था। कुछ लोग यह मानते हैं कि वे केवल निवृत्ति मार्गी थे क्योंकि प्रवृत्ति का अनुसरण प्रत्यक्ष में उन्होंने नहीं किया अर्थात् गृह गृहस्थी उन्होंने नहीं बसाई थी।

कुछ लोग यह आक्षेप उठाते हैं कि समर्थजी की नीति सामयिक थी। क्योंकि आजकल के जीवन में वह अनुकरणीय नहीं है। परन्तु बारीकी से मनन करेंगे तो हमें यह विश्वास होगा कि लोगों के ये आक्षेप सर्वथा निराधार हैं। क्योंकि जो स्थिति उस समय थी वह आज भी वर्तमान है और उससे मुक्ति पाने के मार्ग भी हर अवस्था में बरते जाते हैं। समर्थजी ने 'दासबोध' 'मनोबोध' 'करुणाष्टक' आदि जो पद्य-ग्रंथ लिखे हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि वे धर्मनीति, राजनीति और समाजनीति में पारंगत थे। इन तीनों नीतियों को अपनाने के लिए जिस शास्त्राधार की आवश्यकता होती है उस शास्त्र में भी वे प्रवीण थे। बुद्धि की कसौटी पर कसने के बाद हमें यह मानना पड़ेगा कि समर्थजी की कर्म-साधना भारतीय जीवन का शाश्वत नियम है—प्रमाण है।

भारतीय जीवन का यथार्थ रूप प्रभु रामचन्द्रजी और भगवान श्रीकृष्णजी के जीवन एवं कार्य-साधना में जिस प्रकार हम पा सकते हैं ठीक वही रूप समर्थ रामदासजी के जीवन एवं कार्य-साधना में मिलता है। क्योंकि इन तीनों महापुरुषों के अवसर पर धर्म, राजनीति और समाज की समान अवस्था रही है। यह सत्य है कि प्रभु रामचन्द्रजी और भगवान श्रीकृष्णजी के समान राजनीति को प्रथम स्थान समर्थजी ने नहीं दिया। इसी लिए प्रत्यक्ष में उन्हें लड़ाइयाँ नहीं लड़नी पड़ीं। फिर भी लड़ाइयों की भांति में समानता की भूमिका का ज्ञान हमें होता है और फिर स्वयं रामदासजी भी इस बात का दावा नहीं करते हैं कि जीवन में मैंने राजनीति को प्रथम स्थान दिया है। अतः प्रभु रामचन्द्रजी और भगवान श्रीकृष्णजी के जीवन का आदर्श ही हम

प्रथम हरिकथा निरूपण ।
द्वितीय राजनीति जाण ॥
तृतीय सावधानता ।
सब भूत हित रत की ॥

—दासबोध

सम्पूर्ण भारतवर्ष का भ्रमण कर हिन्दुओं की जो शमनीय दशा समर्थजी ने देखी उसके निवारण में यह मार्ग उन्होंने निश्चित किया जो प्रत्येक युग में और प्रत्येक अवस्था में बरता जा सकता है। भगवान के दरबार में भय को स्थान नहीं होता। जो डर पोक हैं वे भगवद् भक्त नहीं बन सकते। निर्भय होकर धर्मभूमि से जा चलता है वह अभय पाता है। धर्मभूमि के आधार पर ही सब प्राणियों के हित की चिन्ता की जा सकती है और यह चिंता ही सबप्राणिया को राजनीति से संलग्न बनाकर राज्य क्रांति का बीज बो सकती है। धार्मिक क्रांति के बिना राज्य-क्रांति असंभव है और राज्य क्रांति के बिना सारे प्राणियों का हित नहीं साधा जा सकता। इन्हीं विचारों को दृढ़ बनाकर कर्म-साधना के पथ पर समर्थजी ने अपना पहला कदम जमाया। इस कदम के अनुसार चलते हुए समर्थ रामदासजी ने जो सामर्थ्य पाई है उसे अवतार्य कहने वाले महानुभाव प्रत्यक्ष महाराष्ट्र में भी कुछ कम नहीं हैं। कुछ सज्जनों का यह कहना है कि राजनीति से प्रत्यक्ष सबन्ध समर्थजी का था नहीं। क्योंकि किसी लड़ाई में उन्होंने प्रत्यक्ष हिस्सा नहीं लिया था। कुछ लोग यह मानते हैं कि वे केवल प्रवृत्ति मार्गी थे क्योंकि प्रवृत्ति का अनुसरण प्रत्यक्ष में उन्होंने नहीं किया अर्थात् गृह गृहस्थी उन्होंने नहीं बसाई थी।

कुछ लोग यह आक्षेप उठाते हैं कि समर्थजी की नीति मात्र धार्मिक थी। क्योंकि आजकल के जीवन में वह अनुकरणीय नहीं है। परन्तु बारीकी से मनन करेंगे तो हमें यह विश्वास होगा कि लोगों के ये आक्षेप सर्वथा निराधार हैं। क्योंकि जो स्थिति उस समय थी वह आज भी वर्तमान है और उससे मुक्ति पाने के मार्ग भी हर अवस्था में बरते जाते हैं। समर्थजी ने 'दासबोध' 'मनाबोध', 'करुणाष्टक' आदि जो पद्य ग्रंथ लिखे हैं उनमें यह स्पष्ट होता है कि वे धर्मनीति, राजनीति और समाजनीति में पारंगत थे। इन नाना नीतियों को अपनाने के लिए जिस शास्त्राधार की आवश्यकता होती है उस शास्त्र में भी वे प्रवीण थे। बुद्धि की कसौटी पर कसने के बाद हमें यह मानना पड़ेगा कि समर्थजी की कर्म-साधना भारतीय जीवन का शाश्वत नियम है—प्रमाण है।

भारतीय जीवन का यथार्थ रूप प्रभु रामचन्द्रजी और भगवान श्रीकृष्णजी के जीवन एवं कार्य-साधना में जिस प्रकार हम पा सकते हैं ठीक वही रूप समर्थ रामदासजी के जीवन एवं कार्य-साधना में मिलता है। क्योंकि इन तीनों महापुरुषों के अवसर पर धर्म, राजनीति और समाज की समान अवस्था रही है। यह सत्य है कि प्रभु रामचन्द्रजी और भगवान श्रीकृष्णजी के समान राजनीति को प्रथम स्थान समर्थजी ने नहीं दिया। इसी लिए प्रत्यक्ष में उन्हें लड़ाइयाँ नहीं लड़नी पड़ीं। फिर भी लड़ाइयों की नीति में समानता की भूमिका का ज्ञान हमें होता है और फिर स्वयं समर्थजी भी इस बात का दावा नहीं करते हैं कि जीवन में मैंने राजनीति को प्रथम स्थान दिया है। अतः प्रभु रामचन्द्रजी और भगवान श्रीकृष्णजी के जीवन का आदर्श ही हम

समर्थजी को कर्म साधना में पाते हैं।

यद्यपि भारतीय जीवन में ऐसे अनेकों महाभागों ने जन्म लिया जिनके आदर्श को हम मानते हैं। परन्तु कर्म साधना का जो आदर्श समर्थजी ने समुपस्थित किया है वह परम्परागत होने के कारण स्वीकार किया जा सकता है। सो उन अनेकों महाभागों को वंदन करते हुए भी हम इस बात का अनुभव करते हैं कि भारतीय जीवन-परम्परा की साधना प्रभु रामचन्द्रजी के बाद भगवान श्रीकृष्ण ने की है और अनन्तर उसी योग साधना का उपार्जन समर्थजी ने किया है। यह सत्य है कि इन तीनों महाभागों का आदर्श ही भारतीय जीवन को पोषण देकर समर्थ बना सकता है क्योंकि भारतीयों की प्रवृत्ति, प्रकृति निष्ठा और जीवन-साधना में समानता है। कोई किसी विशिष्ट तत्त्वज्ञान के आधार पर यह कहे कि आधुनिक जीवन में पुराने आदर्श काम नहीं आ सकते अतः उनका त्याग किया जाए तो उसका यह कहना भ्रम मूलक सिद्ध होगा। क्योंकि भारतीय जीवन का आदर्श शाश्वत है—सनातन है। हाँ यह ठीक है कि समयानुकूल, रीति-रिवाजों और उन साधनों के प्रयोगों में परिवर्तन हो सकता है। परन्तु हमें यह निश्चित रूप से समझ लेना होगा कि परिवर्तित रीति रिवाज भारतीय जीवन से विच्छिन्न होकर भारतीय जीवन को संपन्न नहीं बना सकते। क्योंकि भारतीय जीवन में जीवन विषयक प्रत्येक सिद्धान्त के बारे में गंभीरता से विचार किया गया है। जिसके मनन और चिंतन से यह बात अनायास सिद्ध होती कि नवीनतम ऐसा कोई आदर्श नहीं है जिसके बारे में भारतीय जीवन में न सोचा हो। अतः किसी विशिष्ट भूमिका का आग्रह

कर भारतीय जीवन को गढ़ने का प्रयास करना सर्वथा अनुचित सिद्ध होगा। फिर चाहे अर्थवाद हो शरीर श्रम हो भूगर्भ शास्त्र हो अथवा विज्ञान का कोई पहलू हो। इन सभी सिद्धान्तों का विचार भारतीय जीवन-दर्शन ने किया है और अपने साक्षात्कार से उन सिद्धान्तों की गतिविधि निर्धारित कर उन्हें परिपुष्ट भी बनाया है।

# कर्म-साधना

## मठ, महन्त और शिष्य

समर्थ रामदासजी अपने को हनुमानजी का समकक्ष मानते थे। इसलिए कि हनुमानजी भी प्रभु रामचन्द्रजी के अनन्य उपासक थे और ये भी थे। दोनों ब्रह्मचारी दीर्घोद्योगी और निवृत्ति मार्गीय थे परन्तु धर्म तथा समाज की रक्षा करने के हेतु, दूसरों का जीवन सुखी बनाने के लिए प्रवृत्ति-मार्ग के उपासक बन आजीवन परिश्रम करते रहे।

धर्म का आदर्श स्थिर करने के लिए काली माता को शक्ति देवता के रूप में हनुमानजी को युक्ति देवता के रूप में और प्रभु रामचन्द्रजी को आराध्य देवता के रूप में समर्थजी पूजते रहे। समूचा हिन्दू समाज इसी आदर्श पर स्थिर हो इसलिए समर्थजी ने जन-जागृति के लिए हिन्दुस्थान में ११०० मठों की स्थापना की जिनके द्वारा कर्म-साधना का कार्य होता रहा। परन्तु मठों की स्थापना करना और कर्महीन शब्द रूप धर्म की उपासना करना उनके जीवन का लक्ष्य नहीं था। मठों के द्वारा प्रचारित धर्म के लिए सुयोग्य धर्माधिकारियों को ढूंढ़कर उन्हें अनुग्रह देने की योजना भी वे मठों के साथ-साथ करते थे। मठ तथा मठ-पति का व्यय तथा योगक्षेम चलाने के हेतु साधन सामग्री का भी वे प्रबंध करते थे। प्रत्येक कार्य में विधि विधान को निर्धारित

कर तत्-सुगत योजना मठों और मठाधिपतियों के द्वारा सुचारु रूप से चले इस बात का भी ध्यान उन्होंने रखा था ।

मठपतियों के दो प्रकार थे । एक सन्यासी और दूसरे गृहस्थाश्रमी । सन्यासी मठपति को महंत कहा जाता था और गृहस्थाश्रमी मठपति को शिष्य । परन्तु चाहे शिष्य हो अथवा महंत हो उसे निर्धारित दिनचर्या का ही पालन करना पड़ता था । सुबह उठकर स्नान संध्यादि ब्रह्मकर्म से निवृत्त होने के बाद सूर्योपासना के रूप में बारह सौ दंड लगाना दोपहर को भिक्षा के निमित्त ग्राम में घूमकर जीवन-ज्योतियों को परख उन्हें प्रज्वलित करना दोपहर के बाद अध्ययन-अध्यापन और शाम को कथा-पुराण सुनना-सुनाना यह का दैनिक काम था । समाज एवं धर्म-कार्य के बारे में रात्रि के शांत अवसर पर सोचना और निर्धारित संकेत के अनुसार धर्मद्रोहियों का प्रबन्ध उनके ही द्वारा अथवा हिन्दू धर्मप्रेमियों के द्वारा चुपचाप कराना हिन्दू-हित तथा समाज के विरुद्ध चलने वाले का प्रतिरोध प्रत्यक्ष में अथवा अप्रत्यक्ष में लगाना या लिखाना, हिन्दू धर्म के मठों पर्वों एवं पदों में सामंजस्य स्थापित करना प्रत्येक अवस्था में उत्साह से हिन्दुओं को बचाना यदि कोई हिन्दू भी धर्मद्रोही हो तो उसे भी उचित दंड देना— इत्यादि भी दैनिक काम के अंग थे जिन्हें समर्थजी स्वयं मठ में कुछ दिन रहकर सिखाते थे । उनके पालन में आनाकानी न हो इसलिए भी समर्थजी ने गुप्त रूप से प्रबन्ध कर रखा था । समर्थजी ने प्रचार कार्य का अपने अधिकार में रखते हुए स्वतन्त्र रीति से मठों की स्थापना कर महंत व और शिष्य बनाकर उन्हें अनुभव भी देते थे । परन्तु शिष्य और महंत ही मठों में



जिन ग्यारह स्थानों पर समर्थजी ने हनुमान जी के मंदिर स्थापित किए, उनका निर्देश अंकों के द्वारा हुआ है।

हो उसे केवल धर्म प्रचार का ही काम करना पड़ता था। ऐसे ही स्थानों पर मठों की स्थापना की गई थी जहाँ की भूमि उनके योग्य हो। मठों की स्थापना में मुख्य रीति से दो बातों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। एक धर्मजागृत स्थान और दूसरा अधर्मियों से पीड़ित स्थान। धर्मजागृत स्थानों से महंत एवं शिष्यों की संख्या बढ़ा कर उन्हें समय असमय पर अधार्मिक स्थानों में हिन्दू-हित की रक्षा करने के हेतु भेजा जाता था। अधार्मिक स्थानों में केवल धर्मजागृति कर हिन्दुओं में सहनशीलता बढ़ाने का प्रयास कर

उनको [illegible] सिखाया जाता था। महाराष्ट्र के अतिरिक्त उत्तर भारत में लगभग [illegible] भी मठों की स्थापना समर्थजी ने की थी। मठों का निर्माण गाँव के बाहर, पर्वतों एवं पर्वतीय गार्द में होता था जिससे समाज-सम्पर्क का लाभ उठाते हुए भी उसके सम्पर्क से दूर रहकर गुप्त कार्यों की योजना बनाने में सुविधा हो।

चेतना भरकर लोगों में
लोगों से जुटाते रहे लोग।
धर्म सत्ता के निर्माण में,
पुरजा थे गुप्त कर्म।

—रामबोध

समर्थजी ने अपनी इस नीति के अनुसार हजारों लोगों का संगठन किया। जिनमें कुछ दास थे कुछ शाही नौकर थे कुछ प्रचारक थे कुछ अनुचर थे, कुछ सहचर थे और कुछ गुप्तचर थे। उनमें हिन्दू धर्म की सभी जातियों उपजातियों और पंथों तथा मतों के ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र भी थे, जाति वर्ण और वर्ग का विचार उन्होंने नहीं किया। वे केवल धर्मसत्ता की प्रतिष्ठापना करना चाहते थे। उनकी यह धारणा थी कि शक्ति-युक्ति के बल से बड़े-बड़े राज्य भी जीते जा सकते हैं परन्तु धर्म-सत्ता अबाध एवं अजेय होने से उसे महान से महान शक्ति भी पराजित नहीं कर सकती। इसीलिए उन्होंने हजारों धर्म प्रेमियों का संगठन कर उन्हें अलग अलग कामों में जुटा दिया। वाद-विवादों से हमेशा अलग रहे। व्यक्तिगत गौरव बढ़ाने वाले काम नाम जापन को वे अधिक पसंद करते थे। यही कारण है कि एक बार किसी व्यक्ति में महत्त्व स्थापित हुआ कि पुनरुत्थान के कार्य को

योजना बनाकर उसमें यश अथवा अपयश तथा कार्य-पद्धति का निर्णय कर वे निश्चित बनते थे। लोगों को परखने की शक्ति उनमें अलौकिक थी। किसी को एक बार देख लेने से ही उसके बारे में सब बातें वे तुरन्त ताड़ लेते थे। कोई भी व्यक्ति किसी खास काम के लिए उनसे प्रत्यक्ष में साक्षात्कार नहीं कर सकता था। काम का महत्त्व ध्यान में रखकर ही शिष्य अथवा महंत के द्वारा उस व्यक्ति की जांच-पड़ताल कराने के बाद समर्थजी स्वयं उससे मिलते थे। धर्मजागृति आपत्काल-निवारण सम्मान रक्षा आदि छोटे-मोटे काम समर्थजी अपने शिष्यों के द्वारा ही कराते थे। राजनीति धर्मनीति सम्प्रदाय-नीति आदि महत्त्वपूर्ण कार्यों को समर्थजी स्वयं पूर्ण करते थे।

समर्थजी के सभी शिष्यों महंतों एवं मठों का सविस्तर ब्यौरा जो उपलब्ध हुआ है उससे इसी बात का पता चलता है कि उनके सन्निकट कौन थे और उन्होंने कहां-कहां कौन-सा काम किया है। यों तो सूची के लिए बहुत-से स्थानों और शिष्यों-महंतों का उल्लेख किया जा सकता है परन्तु उनकी यथोचित जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती। यद्यपि गत पचास वर्षों से इस बात की छानबीन होती चली आ रही है परन्तु प्रदीर्घ परिश्रम उठाने के बाद भी समर्थजी के कार्यक्षेत्र और उसके सबलम तथा सचालकों का समग्र इतिहास पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो सका। फिर इन सारी बातों को जानने की भी आज आवश्यकता नहीं है। भारतीय जीवन जिन आदर्शों एवं कार्य-पद्धतियों से ज्ञान-विज्ञान प्राप्त कर सकता है उन्हीं बातों का उल्लेख वांछनीय भी है। समर्थजी के विशेष संपर्क में रहकर धर्म-स्थापना के लिए घोर

परिश्रम उठाने वाले महन्त और उनके मठों की सूची नीचे दी गई है। जिस प्रकार पुरुषों से निर्धारित कार्य का सञ्चालन करने के लिए अनेक शिष्यों एवं महन्तों ने हाथ बँटाया है उसी प्रकार स्त्री-जाति ने भी अपनी ओर से कोर-कसर बाकी नहीं रखी। हमें यह न भूलना चाहिए कि समर्थजी ब्रह्मचारी थे। परन्तु जब उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्री जाति में धर्म-जागृति अधिक है और वे ही धर्मसत्ता के काम में अधिक योग दे सकती हैं तब उन्होंने स्वयं अनेक स्त्रियों को अनुग्रह दिया। इस एक आश्चर्य की बात है कि अनेकों को मठपति बनाकर शिष्या एवं महन्ता की उपाधि से भी भूषित किया। जगन्माता की भावना से ही समर्थजी उनसे बरतते रहे। उन्होंने इस बात का ध्यान अवश्य रखा कि किसी प्रकार उनकी पद-मर्यादा पर आँच न आए। जो कार्य प्रणाली पुरुषों के लिए समर्थजी ने नियत की थी उसी कार्य प्रणाली का पालन स्त्री शिष्याओं से भी उनकी पद-मर्यादा के अनुसार कराया जाता था। कभी-कभी स्त्री शिष्याएँ ऐसा काम कर जाती थीं कि स्वयं समर्थजी भी आश्चर्य-चकित होते थे। यह भी सत्य है कि पूर्ण रूप से परख लेने के बाद ही उनसे राजनीति, धर्मनीति और समाजनीति में काम लिया जाता था। गुप्त कार्यवाही का भार भी उनको सौंपा जाता था। जो स्त्रियाँ कारणवश विरागी बनती थीं उन्हें उपदेश देकर पूर्ववत् गृहस्थी के काम में ही लगाया जाता था। आयु, ज्ञान, परिस्थिति और पात्रता आदि सारी भूमिकाओं से परखने के बाद भी प्रत्येक में उसकी योग्यता के अनुसार ही काम लिया जाता था। समर्थजी के बाद में [illegible] स्त्रियों में भी इन स्त्रियों के [illegible] उल्लेखनीय है।

जो तत्त्व प्रणाली शंकराचार्यजी ने धर्म प्रचारार्थ बरती ठीक उसी का अनुकरण मठों-पीठों की स्थापना कर समर्थजी ने भी किया। जो तत्त्व प्रणाली भगवान श्रीकृष्णजी ने सामाजिक संगठन में अपनाई थी ठीक उसी पद्धति का अनुकरण और अनुसरण समर्थजी ने किया। जो तत्त्व प्रणाली प्रभु रामचन्द्रजी ने राजनैतिक क्षेत्र में अपनाई उसी तत्त्व प्रणाली का पालन समर्थजी ने किया। फिर भी अपने को दास कहकर तथा दास रहकर समर्थ, समर्थ हुए और महाराष्ट्र के चिरंतन धर्मगुरु एवं राष्ट्र-गुरु बने।

| | मठों के स्थान | मठपतियों के नाम |
|---|---|---|
| १ | जांब | स्वयं समर्थजी |
| २ | चाफळ | 〃 |
| ३ | सज्जनगड | 〃 |
| ४ | टाकली | उद्धव स्वामी |
| ५ | इंदूरबोधन | 〃 |
| ६ | तंजावर | भीम स्वामी |
| ७ | डोमगांव | कल्याण स्वामी |
| ८ | शिरगांव | दत्तात्रय स्वामी |
| ९ | तिसगांव | दिनकर स्वामी |
| १० | कण्हेरी | वासुदेव स्वामी |
| ११ | दादेगांव | देवदास |
| १२ | कराडे | वासुदराम |
| १३ | 〃 | महादेव |
| १४ | मासेगांव | शिवराम |
| १५ | पौड़गाई | पुरुषराम |
| १६ | भीमांगा | आप्पाण्णा |

| | मठों के स्थान | मठपतियों के नाम |
|---|---|---|
| १७ | मिरजळ | बाजी |
| १८ | " | नारायण |
| १९ | मल्हारगुड़ी | अनंत स्वामी |
| २० | ठेमगाव | महंत शिवराम |
| २१ | पारगाँव | शंकरगोसावी |
| २२ | मनसाबळ | जयराम गोसावी |
| २३ | मावळवाड़ी | प्रभु |
| २४ | पंढरपुर | अनंत |
| २५ | दत्तात्रयपुरी | त्रिंबक दमया |
| २६ | घोड़ेवर | हरिदास |
| २७ | प्रयाग | बेणीमाधव |
| २८ | अयोध्या | रामकृष्ण |
| २९ | मथुरा | हरिकृष्ण |
| ३० | मायापुरी | जनकृष्ण |
| ३१ | काशी | रामचन्द्र |
| ३२ | कांची | मदनंत |
| ३३ | अवंतिका | गंगाधर |
| ३४ | | रघुनाथ |
| ३५ | द्वारका | हरि |
| ३६ | बद्रिकेदार | दत्त |
| ३७ | भारटी | विश्वंभर |
| ३८ | सोमेश्वर | रुद्रदास |
| ३९ | गोकर्ण | कल्याण |
| ४० | श्री शैल शिखर | केशवदास |
| ४१ | भीमाशंकर | गोपाळ |
| ४२ | पंचवटी नगर | सरस्वति |

| | मठों के स्थान | मठपतियों के नाम |
|---|---|---|
| ४३ | धृष्णेश्वर | आनंद |
| ४४ | रामेश्वर | हनुमंत |
| ४५ | मत्स्याद्रि | मारुतिदास |
| ४६ | अनंत शयन | भीमभीम |
| ४७ | केज | उद्धव |
| ४८ | बाहेगांव | मुरारी |
| ४९ | सप्तशृंग | उदास |
| ५० | तापीपुर | कृष्ण |
| ५१ | पाली | रंगनाथ पाठमुळ |
| ५२ | हैळवाक | तुकोबा |
| ५३ | मावळा | गंगादास |
| ५४ | सूरत | जनार्दन |
| ५५ | रामटेक | श्रीधर |
| ५६ | गोवा | गोविंद |
| ५७ | गोकर्ण | भैरव |
| ५८ | तेलंगण | शिवराम |
| ५९ | रामपुर | सदाशिव |
| ६० | श्रीरंग पट्टम | शंकर |
| ६१ | बीदर | राम |
| ६२ | गंगाप्रवेश | हरिवंश |
| ६३ | उज्जैन | रघुनाथ |
| ६४ | सह्याद्री प्रदेश | अनंतकवि |

स्त्री शिष्याएँ

१ द्वारकाबाई
२ गवाबाई

३ मनाबाई
४ मायाबाई
५ अन्नपूर्णाबाई
६ सखाबाई
७ गंगाबाई
८ गोदाबाई
९ भागाबाई
१० कृष्णाबाई
११ वेणाबाई
१२ सत्यभामाबाई
१३ मुक्ताबाई
१४ बाबूबाई
१५ भीमाबाई

स्त्री महन्त

| | |
|---|---|
| मिरज | वेणाबाई |
| पालिवाड | अक्काबाई |
| चाफळ | सखाबाई |

उद्धव स्वामी, कल्याण स्वामी, भीम स्वामी, दिनकर स्वामी, रामचन्द्र स्वामी, गोविन्द स्वामी, रघुनाथ स्वामी, गंगाधर स्वामी और नारायण—ये समर्थजी के शिष्य समाज में रहकर महत्त्वपूर्ण काम में भाग लेते थे।

जांब, सज्जनगढ़ और चाफळ के मठों की व्यवस्था स्वयं समर्थजी करते थे। आगे चलकर इन तीन मठों के मठाधिपति समर्थजी के बड़े भाई गंगाधर पंत नियुक्त किये गए। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्रों ने यह गुरुभार उठाया। इन मठों का प्रबन्ध आज

भी सुचारु रूप से होता है। पूजा-पाठ, नैवेद्य आदि तथा धर्मप्रचार के लिए अनेक मठों को इनाम में जमीनें और जागीरें प्राप्त हो चुकी हैं। जिन मठों को यह सौभाग्य प्राप्त न हुआ उन मठों का प्रबंध गाँव की ओर से होता है। जिन मठों को इनाम में जमीनें प्राप्त हुई हैं वे शिवाजी के राज्यकाल में शिवाजी द्वारा प्राप्त हुई हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण अगर कोई बात हो तो वह यह है कि मुस्लिम शासनकाल में भी निजाम जैसे कट्टर मुस्लिम धर्मप्रेमी के द्वारा भी समर्थजी ने और उनके मठपतियों ने जमीनें जागीर अथवा वर्षासन नियत कराए—यद्यपि ये केन्द्र हिन्दू धर्मसत्ता के निर्माण का काम करते थे। इसका मुख्य कारण यह है कि धर्म प्रचारक सामूहिक रूप से धार्मिक विधि के अतिरिक्त कुछ प्रकट कार्यवाही नहीं करते थे। धर्मसत्ता के निर्माण का कार्य व्यक्तिगत और गुप्त रूप से होता था। जिसके लिए समर्थजी का यह विशेष आदेश रहता था कि 'कोई भी मठपति अपने मन की बात को प्रकट न करे। धूर्तता, सावधानता गुणज्ञता के बल दीर्घोद्योग करे। वह बहुत कम बोले। हर किसी से एकांत में मिले। भिक्षा के मिस प्रयत्न में सतत सर्वत्र संचार कर अवस्था का परिज्ञान प्राप्त करे। अधिकतर छोटे-मोटे काम दूसरों के द्वारा कराए। स्वयं एकांत में निवास करे। धर्म की शुद्धता बनाए रखने के लिए आचरण की कट्टरता पर विशेष ध्यान दे। विश्राम को शत्रु समझे। एक ही स्थान पर हमेशा न रहे। अपने पास किसी वस्तु का संग्रह न करे। धर्म के लिए मरने और मारने की भावना समाज में भर दे। धर्मसत्ता के लिए सर्वस्व समर्पण की ज्योति जगा दे। चाहे सामान्य व्यक्ति क्यों न हो परन्तु उसको अपने हित

की रक्षा करने के लिए समय बनाए उसमें सामर्थ्य भर दे। विभिन्न भाषाओं, पंथों और मतों का ज्ञान प्राप्त करे। अनेक मठ और मठपतियों के उत्तराधिकारी आज भी विद्यमान हैं और समय संप्रदाय को अविरत गति देते रहते हैं।

मठ और मठपति के द्वारा हिन्दू धर्म रक्षक सभी कर्मों की साधना होती थी। मुख्य रूप से दैनिक जीवन में बरती जाने वाली कार्यवाही सुचारु रूप से चले इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। अपने समान समाज की ओर देखने के विशेष दृष्टिकोण का महंतों में निर्माण किया था। इसलिए महंत या शिष्य हमेशा काम में मग्न रहते थे। जिन महानुभावों ने कर्म-साधना में भाग लिया गया उनकी प्राप्य सूची दी जा रही है, जिस से कार्य-क्षमता और उसकी व्यापकता का आभास मिलता है।

| | |
|---|---|
| द्वारपाल | गिरिधर |
| हरकारा | दिवाकर |
| रक्षक | माधव |
| प्रचार प्रबंधक | विट्ठल |
| कीर्तनकार | निरंजन |
| प्रवचनकार | नरसिंह |
| प्रचारक मराठा प्रांत | जयवंत |
| „ „ „ | राघव |
| „ उत्तर प्रदेश | विश्वनाथ |
| [illegible] | राम |
| [illegible] | भास्कर |
| प्रमुख शक्ति मठ | हरिहर |
| [illegible] | दिनकर |

| | |
|---|---|
| कार्यसेवक | विश्वनाथ |
| प्रचारक | नारायण |
| " | मामसेटी |
| युगधर्मसंशोधक | महादेव |
| वाटिका प्रबंधक | त्रिंबक |
| प्रचारक वन प्रदेश | जीवनमुक्त |
| पूजापाठ प्रबंधक | प्रेमळभट्टी |
| वन प्रचारक कीर्तनकार | राम |
| तीर्थ स्थान प्रबंधक | वादव माधव |
| मानस शास्त्रज्ञ | हरिदत्त |
| निःस्पृहता के ज्ञाता | कल्याणी |

मठ महंत और उनके प्रबन्ध का ब्योरा यह स्पष्ट करता है कि महाराष्ट्र में धर्म की और स्वराज्य की जो स्थापना हुई है उसका मुख्य कारण मठों महंतों की कर्मसाधना ही है। हजारों की संख्या में शिष्यों और सैकड़ों की संख्या में महंतों के उनके साथ कर्मसाधना में जुट जाने से लाखों लोगों का दैनिक जीवन सुलझ गया। पराधीनता में भी बड़े धैर्य के साथ आत्मानुभव कर निर्भय हो वे धर्म और राजनीति में हिस्सा लेने लगे। जिससे यह स्पष्ट होता है कि समर्थजी केवल आदर्शवादी या निरे निवृत्ति-मार्गीय नहीं थे। अपितु जीवनविषयक अनेक अंगों के कर्मों को साधकर प्रत्यक्ष जीवन में मोक्ष का अनुभव करने के वास्ते धर्म-सत्ता के निर्माण में लगे हुए कर्मवीर थे।

# कर्म-साधना-क्षेत्र

## जीवन-साधक गृहस्थी-धर्म

भारतीय जीवन को समृद्ध बनाने वाले जिन युगपुरुषों का स्मरण हम अभिवादन करते हैं उनमें स्वामी समर्थ रामदासजी का आदर्श सर्वश्रेष्ठ एवं जीवन के प्रत्येक अंग को पुष्ट करने वाला है। यद्यपि उन्होंने बचपन से ही संन्यस्त धर्म को अपनाया था और अपना लक्ष्य राम उसी की आराधना में वे जुटे रहे परन्तु आत्मरूप 'दासबोध' का अध्ययन करने के बाद हमें विश्वास होगा कि जीवन के प्रत्येक अंग को स्पर्श कर उसे समृद्ध बनाने के लिए साधना का जो महामंत्र उन्होंने दिया है वह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का साधक बनेगा। यही कारण है कि वे स्वयं निजी जीवन में हर आश्रम के हर पंथ के और हर श्रेणी के लिए जीवनदायी बने। भारतीय जीवन की गतिविधि में भी जिन महाभागों ने भाग लिया है उनमें समर्थजी इसलिए सर्वश्रेष्ठ हैं कि जीवन के प्रत्येक पहलू का ज्ञान सम्पादन कर अपने अनुभव के द्वारा उन्होंने जीवन की गतिविधि का प्रतिपादन किया। इतना ही नहीं उस गतिविधि के यथार्थ ज्ञान से अज्ञान का नाश करके उसके परिवर्तन में ठोस और व्यावहारिक मार्गदर्शन भी करते रहे। इन सबका आधार कोरा शास्त्रज्ञान नहीं है अपितु अनुभवों के ज्ञान से यह प्रकाशमान बना है। ज्ञानी-अज्ञानी सज्जन-दुर्जन

गरीब-धनवान, राजा-प्रजा उद्योगी-बेकार, धार्मिक-अधार्मिक, नेता-अनुचर, सुखी-दुखी, स्त्री-पुरुष, स्पृश्य-अस्पृश्य, मालिक-

आनंद वन-भुवन

१८ × १४ मील के क्षेत्र में समर्थजी ने धर्मस्थापना, राज्यस्थापना एवं कर्मस्थापना का कार्य किया।

सेवक यहाँ तक कि चोर और बदमाश भी समर्थजी के ज्ञानदीप से अपने-अपने जीवन को प्रकाशमय बनाने के लिए सामर्थ्य पाते हैं। सो समर्थजी का आदर्श सबके लिए अनुकरणीय हो सकता है। समर्थजी के जीवनादर्श की विशेषता यह है कि उन्होंने भेड़िया-धसान प्रवृत्ति का घोर विरोध कर वास्तविक विचार-जगत् से आचार जगत् को पोषण दे विचार और आचार में मेल बढ़ाया।

समर्थजी के जीवनादर्श का एक श्रेष्ठ पहलू गृहस्थ-जीवन है। इस पहलू का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने पर हमें विश्वास होता है कि स्वयं सन्यासी रहकर उन्होंने गृहस्थी धर्म के पालन का उस धर्म के पालन में उठाई जाने वाली कठिनाइयों का और उन कठिनाइयों को उठाने के बाद प्राप्त सुख-साधन का तथा उस सुख-साधन से सम्पन्न रहकर होने वाले संतोष का जो चित्रण एवं मार्ग-दर्शन किया है वह ज्ञान के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ तो है ही सम्पूर्ण जीवन का परिशोध करने में भी विशेष गुणकारी सिद्ध होता है। समग्र 'दासबोध' का मनन करने पर यह स्पष्ट होता है कि गृहस्थ को समर्थजी ने जीवन के विकास क्षेत्र में बहुत बड़ा स्थान दिया है। यहीं नहीं समर्थजी की यह धारणा भी थी कि गृहस्थ जीवन ही विशाल जीवन-वृक्ष की जड़ है। जब तक यह जड़ मजबूत नहीं होगी तब तक जीवन-वृक्ष न पूर्ण बढ़ सकता है न फल दे सकता है और न घनी छाया या सुख-शांति प्रदान कर सकता है। सम्मान, धीरता, सदाचार, मर्यादितता और सुख-स्थिरता का मूल विशुद्ध गृहस्थ जीवन ही है। यदि गृहस्थ जीवन शुद्ध हुआ तो सारी विपदाएँ दूर हो सकती हैं। इस एकमात्र भूमिका के आधार पर समर्थजी ने गृहस्थी धर्म पर

अधिक ज़ोर दिया। फिर उन्होंने देखा कि मनुष्य मात्र गृहस्थ जीवन का प्यासा होता है। फिर चाहे वह किसी दशा में क्यों न हो। सबको भाने वाले जिसके लिए सब लोग सब कुछ करने के लिए तत्पर रहते हैं—ऐसे गृहस्थी धर्म की समस्या उठाकर ही समर्थजी ने जीवन-वृक्ष को पोषण देने के हेतु ठूंठ बने गृहस्थ-जीवन को उठाया और उसकी समस्याओं को सुलझाने का मार्ग दिखाकर जीवन-वृक्ष को छायादार बना सर्वप्रिय सिद्ध किया।

यह सत्य है कि उन दिनों गृहस्थ-जीवन उजड़ गया था। पर पीड़न से हो या आत्मपीड़न से हो गृहस्थ-जीवन क्लेशपूर्ण हो गया था। वस्तुतः किसी रूप में क्यों न हो पर आज भी वह कष्ट प्रद है और उसके सुलझाने पर मानवी जीवन आज भी सुखी बन सकता है। परन्तु न उन दिनों किसी दार्शनिक ने उसे सुलझाने का प्रयास किया था और न कोई आज उसे योग्य मार्ग से सुलझाने का प्रयत्न करता है। यद्यपि वह प्रिय है। मात्र समर्थजी ने गृहस्थ जीवन की समस्या को सर्वप्रथम उठाया और उसके सुलझाने का मार्ग भी दिखाया जो आज भी दीपशिखा बनकर 'दासबोध' के रूप में प्रकाश देता है।

सर्वसाधारण रीति से निर्गुण के उपासक और मस्त जीव हमेशा यह कहते रहे हैं कि गृहस्थ-जीवन दुःख का सागर है। यदि मोक्ष पाना हो तो उसके बन्धनों से तुरन्त मुक्त होना चाहिए। ऐसों के लिए समर्थजी ने कहा है

गृहस्थी को त्याग कर परमार्थ में
योग देगा यदि कोई,

भूखों मरेगा जिंदगी भर
बदनाम दुखी परमार्थी ॥

प्रथम गृहस्थी को बसाये
फिर परमार्थ को चरितार्थ कर
यहाँ न सुस्ती काम देगी
विरोधी धर्म के लिए ॥

गृहस्थ जीवन चार पुरुषार्थों का साधन-स्थान है। धर्म से अर्थलाभ करके विधियुक्त विषयभोग भोगकर ही मोक्ष का द्वार खुलता है। अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों मानवीय प्रवृत्तियों का उपार्जन बिना पुरुषार्थ के नहीं होता। आप धर्म से अर्जन का प्रयास करें, अर्थलाभ की इच्छा से उद्योग करें, काम वासना की तृप्ति में जुट जाएँ अथवा मोक्ष का चिंतन करें परन्तु याद रखिए कि बिना पुरुषार्थ दिखाए आप इन कार्यों में सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। पुरुषार्थ दिखाने का मतलब यह नहीं है कि आप केवल अपने शरीर-बल से उत्पादन की शक्ति प्राप्त करें। शक्ति की आवश्यकता तो सर्वत्र होती ही है। परन्तु शरीर के साथ-साथ विशाल मनोबल का और अटल आत्मशक्ति की भी आवश्यकता होती है। सबसे प्रथम धर्म अधर्म के भेद को समझकर निर्भयता से धर्म के पालन की आवश्यकता होती है। इसके बाद धन का उपार्जन समय सद्धर्म की सलाह लेनी पड़ती है। ऐसे अवसर पर मोह और माया के जाल में फँसकर धन की लालसा में हम सद्धर्म को भूल जाते हैं। यदि सद्धर्म के अनुसार धन कमाएँगे तो विधियुक्त विषय भोगकर काम का अनुष्ठान करने में भी सफल होंगे। काम-वासनाएँ फिर भी हमारे मन में विकृति का निर्माण

कर सकती हैं। परन्तु विधियुक्त भोग भोगने पर ही हम मोक्ष के अधिकारी बन सकते हैं। मतलब जो इन चारों पुरुषार्थों को *शरीर मन और आत्मबल से पाएगा वही गृहस्थ-जीवन के साधन* का अधिकारी बन सकता है। अतः मोक्ष के लिए गृहस्थ जीवन का साधन ही सर्वोपरि है, सबसाध्य है। इसी भूमिका के आधार पर मोक्ष की साधना करने वालों के लिए समर्थजी कहते हैं—

आश्रमों गृहस्थी त्यागे
ज्ञान पाकर धन कमाए
फिर गृहस्थी बसाए
सुख साधन के हित ॥

*स्वयं को दुःखी बनाकर*
दूसरों को सुखी बना,
सुख लुटाने का साधन
गृहस्थी जीवन विवेक का ॥

गृहस्थी में भोग भोगी
मोह से फिर अलिप्त रह,
मोक्ष का द्वार खुले तब
घर गृहस्थी के मार्ग से ॥

पिटाई का अभ्यस्त बन
शरीर, मन और इन्द्रियों को,
*अन्यथा होगा धिक्कार*
घर बार और समाज में ॥

गृहस्थी बसाए मोह छोड़कर
गृहस्थी भोगते रहते हुए,

पाता है जगता में सार्थकता
योग यत्न यह विवेक से ॥

यह सत्य है कि घर-गृहस्थी चलाना कोई मामूली बात नहीं है। उसके लिए सतत दीर्घोद्योग और चतुराई की आवश्यकता होती है। परन्तु बिना चतुराई व दीर्घोद्योग से गृहस्थ-जीवन को सुखी बनाने का प्रयास कोई करेगा तो वह पापी है—पाखंडी है। वह न अपने-आपको इस दशा में सुखी बना सकता है और न दूसरों को। गृहस्थों को हमेशा यह ध्यान में रखना चाहिए कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम की साधना गृहस्थों के कारण होती है। अतः उसे इन तीनों आश्रमों की साधना गृहस्थी से ही करनी चाहिए। सो गृहस्थी में सदा सजग रहने के लिए समर्थजी कहते हैं

परम भेद को न जाने जब
दास दुस्तर कहता है तब
सो बिलखाते हैं नर नारी
दुर्जन के प्रभाव में ॥
मुक्ती को विदा करके
नाम को शरण में ला,
तोड़कर दुर्वासना को
देह को मन के घर से ॥

अधिकांश लोग गृहस्थी में अज्ञान, आलस्य और दुर्वासना के कारण सुखी नहीं हो पाते। यदि गृहस्थ जीवन असुचित्र हुआ तो चार आश्रम भी अनुचित होते हैं और सारा पुरुषार्थ विपरीत गति में चलकर जीवन रस का सर्वनाश कर देते हैं। गृहस्थ जीवन को सुखी बनाना हो तो सबसे पहले मनुष्य को हमेशा के

लिए उद्योगरत रहना चाहिए। उद्योग को ही भगवान समझकर आराधना के रूप में उसे चलाना चाहिए। उद्योगी के घर ऋद्धि सिद्धियाँ अपनी सेवाएँ अर्पित करती हैं या उद्योग ही भगवान है। ये सनातन सिद्धान्त हैं जो इसी अभेद को स्पष्ट करते हैं।

अत हमें डटकर उद्योग करने चाहिए, डटकर गृहस्थी को निभाना चाहिए। गृहस्थ जीवन से ऊबकर या भागकर छुटकारा पाना चार पुरुषार्थों को फाँसी के तख्ते पर लटकाना है चार आश्रमों को गाड़कर जीवन-वृक्ष को अपने हाथों उखाड़कर फेंक देना है।

*यदि गृहस्थ-जीवन को हम ठीक तरह से बसा सकें तो सगुण* अवस्था से निर्गुणत्व को भी पा सकेंगे। सगुण और निर्गुण के *उपासकों के लिए भी गृहस्थ-जीवन एक सुन्दर साधन है। गृहस्थी* को यथायोग्य चलाते हुए जो उसके सुख-दुःख से अलग रहता है वही विदेह अवस्था को यानी निर्गुण रूप को पा सकता है। अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति का साक्षात्कार भी गृहस्थ-जीवन से ही हो सकता है। प्रवृत्ति के बिना निवृत्ति का अभिलाषी बनना सर्वथा अश्रेयस्कर होगा। यह भी सत्य है कि निवृत्ति का साधन मात्र प्रवृत्ति है। *पुरुषार्थ को साधने के लिए,* चार आश्रमों को चलाने के लिए अथवा निवृत्ति और प्रवृत्ति का साक्षात्कार करने के हेतु गृहस्थ-जीवन ही सच्चा साधन और संतोष का मात्र आधार है—यह समर्थजी ने अनेक वचनों द्वारा स्पष्ट कर गृहस्थी के लिए जनता को जागृत किया।

कर्म अकर्म की तरह कर
करते गृहस्थी जीवन,

मन सेवा में जागृत मुक्त
मोक्ष प्रद संतोष का ॥

—रागबोध

समयसुन्दरजी ने गृहस्थ जीवन को बड़ा बढ़ाकर आदर जो प्रोत्साहित किया है उसमें कुछ शास्त्रों का दृष्टान्त के आधार पर ही नाममात्र उल्लेख करने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन-वृक्ष का पोषण गृहस्थ जीवन पर ही अवलम्बित होता है। इसीलिए समयसुन्दरजी ने पुनः-पुनः गृहस्थी धर्म के पालन पर आग्रह किया। राजधर्म, प्रजाधर्म, संन्यासीधर्म, वर्णधर्म, स्त्रीधर्म, पुरुषधर्म, लोकधर्म आदि अनेक धर्मों का योग गृहस्थी धर्म होने से उन सब धर्मों का उपार्जन करने के हेतु गृहस्थ जीवन का आधार एक ठोस रूप से रहता आया है। इसके अतिरिक्त गृहस्थी धर्म के कारण उन सारे सद्गुणों को पोषण मिलता है जो मानव जीवन के लिए परम आवश्यक हैं। जैसे त्याग, परोपकार, निवारण, वात्सल्य, मृदुता, सहनशीलता आदि जो भी सद्गुण मनुष्यों में वास करते हैं उनका प्रत्यक्ष दर्शन गृहस्थ-जीवन में ही होता है।

यद्यपि पाश्चात्य जीवन भौतिक दृष्टि से सम्पन्न है परन्तु गृहस्थी के महत्त्व से वंचित होने के कारण अथवा गृहस्थी धर्म के शास्त्रों को न मानने से वह भारतीय जीवन से जो अधिक गहरे सुख का अनुभव करता है और मन को सदा ईश्वर के लिए भारतीय संस्कृति सागर में डुबकियाँ लगाता है। यह तो सत्य है कि भौतिक की प्रगति के साधनों से हम वंचित हैं फिर भी अपने जीवन को सदा सुखी अनुभव करते हुए उसे परिपूर्ण करते हैं। इसका मुख्य कारण अगर कोई होगा तो वह गृहस्थ जीवन ही है।

गृहस्थ-जीवन के कारण षडरिपुओं को हम अपने साथी बना लेते हैं। फिर हमारा गृहस्थ जीवन इकाई के रूप में अथवा सकुचित भावना से क्यों न पुष्ट हो। परन्तु पाश्चात्य जीवन षडरिपुओं के आधीन होकर सर्वनाश की लपटों को अपने-आप फैलाता है।

'भूखे भजन न होय गुपाला' यह कबीरदासजी का वचन गृहस्थी-धर्म के रूप को ही स्पष्ट करता है। अथवा "जीओ और जीने दो" यह साम्यवादी सिद्धान्त भी इस जीवन के योग को स्पष्ट करता है। मतलब जीवन-वृक्ष की जड़ गृहस्थ-जीवन है और उसके भरण-पोषण से ही जीवन-वृक्ष फलने-फूलने वाला है। इस आदर्श को अपने सामने रखकर समर्थजी ने गृहस्थी-धर्म का आग्रह किया है।

उन्होंने यह भी कहा है कि डरपोक तंगदिल, स्वार्थी, कमजोर बुद्धि और शक्तिहीन लोग इस धर्म का पालन करने में असमर्थ हैं। यदि जीवन-वृक्ष का भार इनके जिम्मे सौंपा गया तो वह निश्चय ही ढह जाएगा।

यह माना जाता है कि मनुष्य सर्वशक्ति-सम्पन्न है। वह स्वयं भगवान से भी होड़ लगाने में आनाकानी नहीं करता। और कई बार यह सिद्ध हुआ है कि मनुष्य ने भगवान को भी पराजित किया है। इस अवस्था में आज का संसार दुःखी और पीड़ित क्यों है? समर्थजी बतलाते हैं गृहस्थ-जीवन के अभाव से—भोग से त्याग और त्याग का भोग न जानने से।

## अनेकांगी कर्म-साधना

यह स्पष्ट हो चुका है कि समर्थजी ने जीवनगामी प्रत्येक

कर्म की साधना का ज़िक्र किया है। इतना ही नहीं अपितु प्रमुख कर्म-साधनाओं का विस्तृत विवेचन भी किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि कर्म की हर तह तक वे पहुँचे थे। व्यक्ति या राष्ट्रीय जीवन में वह किस प्रकार साधक बन सकती है इस बात का उन्होंने अभ्यास किया था। अतएव कर्ममार्ग से पोषित मनुष्य के स्वाभाविक धर्म के शास्त्रीय रूप का अनुसंधान कर उन्होंने 'दासबोध' में इस बात का विवरण उपस्थित किया है कि व्यक्ति तथा समाज के दैनिक जीवन में वह किस रूप में पोषक बनेगा। मुख्य रूप से सद्प्रवृत्तियों को अपना कर असद् प्रवृत्तियों से छुटकारा पाने के लिए सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्र में वे प्रयत्न करते रहें। इसलिए इन तीन विषयों की कर्म-साधना का मुख्य रूप से उन्होंने ज़िक्र किया है जिसका परिचय मात्र हम आत्मचरित्र में प्रस्तुत आप पा सकते हैं।

समर्थजी ने कर्म-साधना को स्पष्ट कर मुख्य रूप से यह कहा है कि जो जिस क्षेत्र में और जो काम करता है उसका यह कर्तव्य है कि उस काम की और उस क्षेत्र की वह संपूर्ण जानकारी प्राप्त करे। अपने नियोजित कार्य में प्रवीणता दिखाए। नियोजित कार्य में आने वाली अड़चनों को धैर्य के साथ अपनी युक्ति से दूर करे। अपने कार्य का अभिमान न करे और उसे सफल बनाने में ही जीवन की सार्थकता अनुभव करे। अपने कार्य में किसी को बाधा न पहुँचाए वरन् वह कार्य समाज जीवन को अधिकाधिक पोषक होने वाला सिद्ध हो इस बात का ध्यान रखे। कार्य-साधना में धन और कीर्ति को ठुकराकर उसे "इदं न मम" की भावना से समाज या राष्ट्र के कार्य में लगाए। यह धर्म या जाति — का काम

साधना के क्षेत्र में स्थान न दे। अपितु हर कार्य से धर्म समाज या राष्ट्र को पोषण मिलता है इस भावना से उसकी ओर देखकर कर्म-हित और समन्वय का क्षेत्र बढ़ाये।

कर्म-साधना के शास्त्रीय रूप का विस्तारपूर्वक विवेचन समर्थजी ने इसलिए किया था कि उन दिनों में (और लगभग आज भी) कर्म-साधना दूषित हो गई थी। कार्यमर्यादा और कार्य क्षमता को लोग भूल गए थे। सर्वत्र दुर्गुणों का और अनाचार का साम्राज्य फैल गया था। इस दुरावस्था को देख समर्थजी ने उस पर भी करारा व्यंग किया है। स्वभाव के अनुरूप कार्य उसके गुणधर्म और उससे होने वाली लाभ-हानि का हिसाब-किताब दर्शाकर उन्होंने सद्प्रवृत्तियों को सक्रिय किया है। समर्थजी के उन मुख्य सूत्रों की विवेचना विषय के अनुसार उन्हीं के वचनों के आधार पर यद्यपि की गई है फिर भी 'दासबोध' के कुछ वचनों को यहाँ पर भी दिया गया है, जिनसे अनेकांगी धर्म-साधना में किस प्रकार उन्होंने ठोस योग दिया था यह बात स्पष्ट होगी।

*राजधर्म*

धर्म द्रोही राष्ट्र द्रोही
नारकी कुत्ते बनते हैं,
मार भगाओ उन सबको
भारत हित को द्रोही हैं ॥
मनुष्यों की परख जाने
योग्यता से काम ले
निकम्मे भी कुशाले
काम आते हर कहीं ॥

होनहारों को जुटा कर
काम साथ हिलमिलाकर
सविनय पुलिस से बचाकर
राजनीति धर्म के हित ॥
मुख्य गुण को धारण कर
काम साथ दूसरों से
धन कामियों से बचा
सेवा करे जनजीवन का ।

वानप्रस्थ

घर बस उठने पर
बिल्लाते हैं जिस प्रकार
लोगों को इकट्ठा कर
बुलाते पाप जिस प्रकार ।
ढोंग निर्माण के लिए
आनन्द मनावें हृदय में
गृहस्थी घरे की उलझन को
समस्यान् घोर सावधान ॥

संन्यास

देहमेव भोग देहमेव रोग
देहमेव योग साधकों का ॥

वर्णधर्म

देव धर्म हुवे जिस युग में
जन्म जाति नर क्योंकर ?
ब्राह्मण हुवे पवाय भी
धर्म कार्य बने क्योंकर ॥
ब्राह्मण मानवे नाम एक
मानवे धर्म कार्य बस

वैश्य शूद्र आचरें स्वधर्म
देख हित-जीवन-साधना ॥

*क्षात्रधर्म*

जो भय खाता है मृत्यु से
वह क्षात्र धर्म से मुँह मोड़
जीवन चलाए उद्योग से
किसी हीन प्रकार का ॥
मारे मरे या काम आए
सार्थक करे साधना को
ऐश्वर्य भोगी भोग का
क्षात्र धर्म आधार से ॥

*समाजधर्म*

करने पर सब कुछ बनता है
पहले सदा करते रहो
दिल से चाहोगे जो कुछ
यत्न के बल पा सकोगे ॥
विवेक को ध्वनि मान
भड़काओ उसे रात दिन
भड़काने पर ही भड़कता है
विवेक को विवेक से ॥
भक्ति से राज्य भी पाओ
युक्ति से चलाना जानो
भक्ति-युक्ति जहाँ होती
वहाँ मुक्ति विराजती ॥

*गृहस्थी धर्म*

गृहस्थी चलाए सफलता से
विवेक से परमार्थ साथ

लोगों का उभय लोक जाए,
पर गृहस्थी के यम से ॥

बाल मानसधन

बातों में रहे दिन रात
खेले कूदे समय साथ
मानव पायेंगे सुविधा का
भगवान-सा समता का ॥
पल में रूठ पल में मचल
फिर स्नेह का बाँध फूट
पावन रूप बने तारक
राग लोभ विसार के ॥

धर्मशास्त्र

(महाराष्ट्र की स्वतन्त्रता के बाद)
सारे साथी छूट गए, बस सारे जो हिन्दुस्तान में
धानम्य बन भुवन में धन समयनों का जय हुआ
उनमें लड़ के मर गए, जिन्हें आये थे इधर उधर
धानम्य बन भुवन में धन मक्त्र धानम्य हो गया।

निर्माणशास्त्र

ऊँचे मंदिर और शिखर, ऊँचे गोपुर व सुन्दर
बाँध तालाब और नहरें, स्थान महल व चौबारे
कारखाने कामदारखाने मकान कैसे कारखाने
मंडप मस्जिदें गिरजे फिर भी मकबराजा—

स्थापत्यशास्त्र

जो और की लम्बी ईंट लाल और चौड़ाई से
ऊँचाई हो तीन और दोनों और समानता
ऊपर ईंट बिलकुल न हो धँसाई में ढील न हो
और न जोड़ो और खिलवट, मजबूत हर मकान हो

कष्ट न पहुँचाए कारीगर को काम और को बाँटे खूब
उचित जानकर काम करावे बार बार डाँट कभी नहीं।

## भारतीय संत और रामदास

भारतवर्ष में जो भी छोटे-बड़े संत हुए है वे सब किसी विशिष्ट पंथ के और सगुण या निर्गुण की उपासना करने वाले थे। यद्यपि संत तथा कर्म मार्ग का अनुसरण उन्होंने किया और कर्म मार्ग का महत्त्व भी समझाते रहे परन्तु कर्म मार्ग का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन उन्होंने नहीं किया और निवृत्तिमार्ग का ही अवलंबन करते रहे। वे चाहे गौतम बुद्ध हों, तुलसीदास हों अथवा सूरदास या नामदेव हों। विशेषकर आग्रहपूर्वक गृहस्थी धर्म का पालन करने की सलाह किसी भी संत ने नहीं दी है। परन्तु समर्थजी इस गतानुगतिक निवृत्तिमार्ग की परिपाटी के विरुद्ध थे। उन्होंने गृहस्थ-जीवन को सर्वश्रेष्ठ मान उसके परिमार्थ की सविस्तर दिशा दिखायी। साथ ही साथ निवृत्ति के आदर्श का परिपालन भी उन्होंने परमावश्यक माना और निवृत्ति योग की साधना का भी सविस्तर उल्लेख किया। इसीलिए तो समकालीन साधु-संतों से समर्थजी सहकार्य पाते रहे और आज भी संत संप्रदाय में समर्थ सम्प्रदाय की ओर आदर की दृष्टि से देखा जाता है। परन्तु हजारों वर्षों से निवृत्ति का ही पोषण संत-मंडली के द्वारा होने से कर्म साधना के क्षेत्र में भारतीय समाज अबोध रहा। व्यक्ति और राष्ट्र के सम्बन्ध को जोड़ने वाली कर्म-साधना की जंजीर को वह बांध न सका। परिणामस्वरूप जंजीर की एक-एक कड़ी अलग होती गई और धीरे-धीरे वह टूट-सी गई। पर हमारे सद्भाग्य से आज कल के भारतीय दार्शनिक साहित्यिक और नेता भी पुन: इस टूटी

कृत्य जंजीर को तोड़ने के प्रयास में जुट गए हैं। व्यक्ति हो या परिवार हो देश का अभिन्न अंग है और देश की उसको चिन्ता करना चाहिए। व्यक्ति या परिवार भी इस बात को महसूस करने लगा है कि देश या समाज के कारण हमारा अस्तित्व टिका हुआ है। व्यक्ति के सुख-दुःख से समाज सुखी या दुःखी बनने का अनुभव कर रहा है और समाज के दुःख दर्द को देख उसके निवारण में व्यक्ति प्रयास कर रहा है। व्यक्ति और समाज का यह आत्मीय सम्बन्ध जागृत धर्म का आदर्श है और इसी आदर्श पर श्रमधर्मी ने अपना योग भारतीय जीवन को प्रदान किया जिसका दर्शन आज भी यत्र तत्र मुनियों में साधु-संतों की प्रवृत्तियों में पाया जाता है। *वस्तुतः ये हमारे आदर्श हैं और ये ही समाज-जीवन का भरण* पोषण करते हैं। साधु-संतों की शक्ति यदि श्रम-साधना में लग गई तो निश्चय ही निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति के क्षेत्र में हम अपने अभ्युदय को साधेंगे। समग्र सम्प्रदाय के लिए यह गौरव की बात है कि श्रमधर्मी के आदर्श पर भारतीय जीवन अब स्थित होने जा रहा है।

निवृत्तिमार्गी संतों ने गृहस्थ जीवन को श्रम-साधना में आवश्यक योग क्यों नहीं दिया है यह विषय स्थान के अभाव से स्पष्ट करने में हम असमर्थ हैं। और यह बात स्वतः सिद्ध भी है कि गृहस्थ-जीवन को ये निवृत्तिमार्ग का रोड़ा मानते थे और श्रम साध्य उपासना करने पर भी गृहस्थों से मुँह मोड़कर उन्होंने निवृत्ति को प्रधानता दी। अनेक उदाहरण ऐसे हैं जो विषय स्पष्ट करते अप्रस्तुत होंगे। अवस्था में साथ देने वाला होने के कारण इसका उपयोग मान लिया जाता है। ———

दासजी के ये वचन भारतीय संतों और रामदास में कौनसा मौलिक भेद था इस बात को अनायास स्पष्ट करेंगे। समर्थजी कर्म-साधकों के लिए कहते हैं

दुष्टों के लिए दुष्ट बनें
बकवासों के लिए बकवास,
स्वयं को बचाते रहें
निन्दकों से आक्षेपों से ॥
काँटे को निकाले काँटे से
पता न चले विधि का
तपस्या की पहचान सब
जिसको उसे होने दे ॥
जो भरोसा करता है दूसरों पर
वह डूबता है कार्य को लेकर
जो स्वयं मेहनत उठाता है
वही यश पाता हर कहीं ॥
मुख्य सूत्र को खुद सँवारे
काम साथ दूसरों से,
उद्धार कर अनेकों का
राजनीति व धर्मनीति है ॥
दुष्टों का दुष्टत्व उभारे
पीसे भूने यथा विधि
पर याद रखे हर समय
सँवारे उसे डूबने न दे ॥
भीड़ उमड़ाए हर कहीं
कार्य के आकर्षण से
पर याद रखे पद कार्य का
बोझ न आए धर्म पर ॥

समर्थजी के ये वचन कर्म-साधना और धर्म-साधना के यथार्थ रूप भेद को स्पष्ट करते हैं और साथ-साथ समर्थजी और अन्य मतों के मौलिक भेदों को भी स्पष्ट करते हैं। अतः विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

इन वचनों से यह स्पष्ट होता है कि धर्मनीति से कर्म-मार्ग को आचरत रहें फिर चाहे वे अच्छे हों या बुरे हों। हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि हमारा कर्म धर्म की भित्ति पर आधारित हो। धर्महित के लिए साम दाम दण्ड भेद का अनुसरण धर्म के साथ-साथ जीवन के लिए भी परम आवश्यक होने से यह नीति अधार्मिक नहीं है। भारतीय मत इस आदर्श को नहीं मानते हैं। समर्थजी इसके आग्रही हैं।

# युद्धकाण्ड की भूमिका

समर्थजी स्वयं को प्रभु रामचन्द्रजी का दास कहलाते थे और यह उपाधि उन्होंने स्वयं पाई थी। ऐसा कहा जाता है कि संत एकनाथ का अधूरा कार्य पूरा करने के लिए ही समर्थजी ने जन्म धारण किया था। जिस प्रकार भगवद्गीता का भाष्य रामायण में पाया जाता है उसी प्रकार रामायण का भाष्य एकनाथी भागवत में पाया जाता है। संत एकनाथ महाराष्ट्र के संत शिरोमणि थे। जिनका पंथ आज भी महाराष्ट्र में बड़े प्रमाण में स्थित है। समय के पूर्व एकनाथजी ने अपनी जीवन-लीला समाप्त की 'एकनाथी भागवत' ग्रंथ का 'युद्धकाण्ड' वे लिखकर पूरा न कर सके थे। अतः उस युद्धकाण्ड को समर्थजी ने अपने 'दासबोध' द्वारा पूर्ण किया। इतना ही नहीं उस युद्धकाण्ड के अनुसार राज्यसाधना में उन्होंने स्वयं योग भी दिया। समर्थजी का लिखा हुआ दासबोध मानो युद्धकाण्ड का ही रूप है। रामायण की सपूर्ति है। एकनाथी भागवत की पूर्ति है।

मानसिक सामाजिक राजनैतिक अथवा धार्मिक रूढ़ प्रवृत्तियों से उन्होंने स्वयं युद्ध किया और अपने सम्प्रदाय के द्वारा अपने शिष्यों से उन पर विजय भी पाई। मानसिक पराधीन प्रवृत्ति को दूर हटाकर उसे स्वाधीन शक्तिशाली बनाने के लिए समर्थजी ने अपने समाज को दीक्षा दी। उन्हें मन को समर्थ बनाने का मार्ग दिखाया। सामाजिक पराधीनता दूर करने के लिए समाज

धारणा के स्वरूप में आमूलाग्र परिवर्तन किया। समाज की वर्णगत कलह को मिटाकर हिन्दू समाज को नये मार्ग में गढ़ा। राजनैतिक पराधीनता को दूर करने के लिए स्वराज्य की प्रस्थापना कराई। और धार्मिक स्वाधीनता के लिए स्वराज्य का आश्रय पाया।

(१) मन की दृढ़ता के लिए शारीरिक शक्ति सम्पादन करके उसे कुवासनाओं से मुक्त और विशुद्ध बनाने के लिए मनोबोध की दीक्षा दी और आत्मरूप दिखाकर निर्भय बनाया। मनोबोध की रचना समर्थजी ने मानसिक अवस्था का रूप करके ही की है।

(२) समाज को शक्तिसम्पन्न बनाने के लिए वर्णगत वर्गगत और पंथगत विद्रोह को दूर कर समस्त हिन्दुओं में सामंजस्य स्थापित किया। धर्म के विशुद्ध रूप को स्पष्ट कर छूत अछूत के भेद को नष्ट किया। जिसके उपलक्ष्य में समर्थजी ने [illegible] से जो ज्ञान प्राप्त किया उसे विशद करते हुए उन्होंने बतलाया

(क) जिसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है अपितु विकारी है वह शूद्र है। (ख) जो क्षेत्र का अधिकारी है और अपने क्षेत्र में उस क्षेत्र का—उस स्थान में रहने वाले सभी जीवों की रक्षा करता है वह क्षत्रिय है। (ग) जो किसी प्रकार की विषमता अपने पास फटकने भी नहीं देता है वह वैश्य है। और (घ) जो ब्रह्म के—प्रसार के—ज्ञान को प्राप्त कर सम्पूर्ण किया रखता है वह ब्राह्मण है।

समाज धारणा के बारे में समर्थजी का यह दृष्टिकोण हिन्दू समाज की रक्षा के लिए जीवनदायी सिद्ध होगा।

(३) राजनैतिक पराधीनता के कारण हिन्दू जाति सभी प्रकार के अनन्वित अत्याचारों से पीड़ित हुई थी धर्म पराधीनता प्राय रहती है । हिन्दू जाति को स्वाधीन बनाने के लिए समर्थजी ने स्वराज्य की प्रतिष्ठापना की । स्वराज्य के बिना स्वाधीनता की रक्षा नामुमकिन है इसलिए अपनी सारी शक्तियाँ स्वराज्य के काम में लगा दी । धर्म प्रचार के लिए जितने भी मठ महंत और शिष्यों का जुटाया था उन सबको धर्म की रक्षा स्वराज्य के बिना न होगी यह उपदेश देकर युक्ति प्रयुक्ति से स्वराज्य के काम में लगा लिया ।

(४) धार्मिक स्वतन्त्रता निर्भयमुक्त भले ही हो पर निर्भय के बिना उसके परिणाम से मनुष्य वंचित रहता है इसलिए धार्मिक क्षेत्र में भी उन्होंने सामंजस्य निर्माण किया । 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' इस मानसिक भावों का प्रत्यक्ष में जब तक नहीं देखा जाता है तब तक वे मन ही मन उठते रहेंगे और फिर विलीन भी होंगे इसलिए केवल भावनाधीन न रहकर अपने मंगल भावों को प्रत्यक्ष में देखने के लिए धर्माधारित स्वराज्य की प्रतिष्ठापना समर्थजी ने करवायी । उसके लिए घोर तपस्या की, देश पर्यटन की तकलीफें उठायीं और दीर्घ प्रयत्नों से समाज के विभिन्न क्षेत्रों को धर्मों और सम्प्रदायों को, स्वराज्य के काम में जुटा दिया ।

इस प्रकार राज्य साधना कर अपना जीवित कार्य युद्ध कांड के रूप को दिखा—'दासबोध' लिखकर पूरा किया ।

प्रयोजन में शक्ति है
जो करता है वह पाता है

मात्र अधिष्ठान भगवान का
करने पर होने पर ।।
भगवान को सिर पर धारण कर
हलचल मचाए हर कहीं
देश डूबे या तरे
चलिवल मन हित से ।।

—दासबोध

अतएव मानसिक तगनगी का हटाने के लिए समर्थजी सब दिशा कामों से भिड़े । उन्हें विशाल दृष्टिकोण दिया । धार्मिक साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर सम्प्रदायों में मेल बढ़ाया । सामाजिक वर्ण अथवा वर्ग-गत कलह से ऊपर उठकर समाज में समानता निर्माण की । हर किसी प्रवृत्ति से जो धर्म समाज देश एवं उनकी अपनी स्वाभाविक स्थिति प्रवृत्ति का विरोध करती थी समर्थजी निरन्तर लड़ते ही रहे । बौद्धिक सामाजिक मानसिक धार्मिक और राजनैतिक क्रांति कर माना उन्होंने हर कहीं युद्धक्षेत्र ही बना लिया । परन्तु युद्धक्षेत्र का निर्माण करना और बात है और युद्धक्षेत्र बन जाने पर उपयुक्त साधन सामग्री जुटाकर उस युद्धक्षेत्र में सफलतापूर्वक यश पाना और बात है । आश्चर्य की बात है कि समर्थजी इन सभी क्षेत्रों के युद्धों में सफल बने । इन युद्धक्षेत्रों का और उनकी युद्धनीति का परिचय दासबोध के द्वारा ही हो सकता है । यहाँ केवल संकेत का ध्यान मात्र है ।

# राज्य-साधना

समर्थजी का जीवन चरित्र ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य साधना में एक विशेष महत्व का स्थान रखता है, जो राजनैतिक क्षेत्र मे सदा के लिए प्रेरक बन सकता है, परन्तु यह पूर्णतया हमारी धारणा और समझ पर अवलंबित है। क्या ही अच्छा होता यदि समर्थजी की राज्य-साधना का सम्पूर्ण विवेचन हमें उपलब्ध होता। सम्प्रति पुरानी टिप्पणियों, आधुनिक एवं पुरानी चरित्र-कथाओं और 'दासबोध' के आधार पर ही इस विषय को स्पष्ट कर संतोष पाना हमारे लिए गौरवपूर्ण है।

पाठकों को यह स्मरण होगा कि आयु के बारहवें वर्ष में समर्थजी म प्रभु रामचन्द्रजी से साक्षात्कार किया और स्वराज्य एव स्वधर्म की रक्षा का आदेश पाया। इसके बाद नासिक म तपस्या के अवसर पर पुन एक बार साक्षात्कार हुआ और समर्थजी ने रामचन्द्रजी के द्वारा 'दास' की उपाधि पाई। इन्हीं दिनों हिन्दू धर्म प्रेमी शहाजी राजा भोंसले समर्थजी से मिले और उनके द्वारा शिवाजी राजा स्वतन्त्र वातावरण में शिक्षा पा रहे हैं इस समाचार को भी उन्होंने जान लिया। हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज की अवनति को वे देख चुके थे और उन्हें मन ही मन यह विश्वास हो गया था कि क्षत्रिय-कुल में इसकी तारक शक्ति पैदा होगी। अपने इस आत्मानुभव के कारण १२ वर्ष की घोर तपस्या पूर्ण करके

समर्थजी ने १२ वर्ष भारत में भ्रमण किया। जिससे शिवाजी राजा कुछ बड़े हुए और यथोचित स्थिति को जानकर उनके उपायों का भी आयोजन समर्थजी कर सके।

समर्थजी ने अनुभव किया कि मुसलमानों के अत्याचार से हिन्दू जाति त्रस्त है। साथ ही साथ उन्होंने इस बात का भी अनुभव किया कि स्वयं हिन्दू जाति भी नैतिक धार्मिक और आचरण की दृष्टि से गिर गई है। इस अवस्था में आत्मशक्ति और साधनशक्ति को पर्याप्त मात्रा में जुटाना अनिवार्य कर्तव्य था। इन दोनों अवस्थाओं का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही समर्थजी ने उन उपायों को ढूंढा और हजारों की संख्या में मठ, महंत और शिष्य को उभारकर हिन्दुओं की धार्मिक शक्ति को जगाया तथा उसे राष्ट्र-साधना की दिशा में मोड़ दिया।

जब शिवाजी राजा बड़े हुए तब पिता शाहजी राजा भोंसले की आज्ञा के अनुसार वे समर्थजी से प्रथम बार शिंगणवाड़ी के बाग में सन् १६७१ में मिले। उनकी धार्मिक भूमिका पूर्णरूप से समर्थजी के आदेशानुसार स्थापित हुई थी। इसीलिए समर्थजी ने उन्हें अनुग्रह देकर यह सलाह दी कि तुम्हारे पिताजी आदिलशाह से मन से नौकर हैं परन्तु तुम अपना आचार में स्वतंत्र हो। अगर आचार में आत्र-शत्रु का अंत करके धर्मक्षेत्र में यवन बढ़े में लगना चाहोगे तो मैं पूरा सहायता प्रदान करूंगा। राम के नाम पर मेरे शिष्य सारे महाराष्ट्र में बिखरे हैं वे सब तुम्हारी सहायता करेंगे। इसलिए धार्मिकता से तुम पर आधार होगा। पर उसी को लड़ाई का बहाना कर राष्ट्र विस्तार में तुम लग जाओ। परन्तु यह सारा उदात्त कार्य रूप में लाते करना होगा। इसलिए

इस उद्योग में तुम्हें भयंकर संकटों का भी मुकाबला करना पड़ेगा। यदि सावधानी से चलोगे तो निश्चय ही धर्म की रक्षा करने के लिए स्वराज्य मन्दिर को उभारा जा सकता है।



शिवाजी को अनुग्रह—धर्मबल पाने के हेतु राज्यसत्ता राज्य को अभय बनाने के लिए धर्मसत्ता की शरण में।

समर्थजी के इस अनुग्रह को पाकर शिवाजी राजा स्वराज्य की स्थापना में जुट गए। उन्होंने सबसे पहले अपने शिवे पुने पर बम्साली मिमा की सहायता से जावळी और रायरी के आदिलशाही किलों पर आक्रमण किया। इसके बाद पुरन्दर और अनन्तर अनेक

किले अपने कब्जे में कर लिए।

जब इस बात का पता आदिलशाही को लगा तब शहाजी राजा भोंसले को उन्होंने कैद कर लिया। परन्तु समर्थजी के प्रताप से अथवा प्रभाव से बीजापुर में यह समाचार फैलाया गया कि शिवाजी राजा अबोध हैं, अतः उन्हें क्षमा कर दिया जाए। यह कार्य उन हिन्दू पदाधिकारियों ने किया जिन्हें समर्थजी ने पहले ही शिष्य बना लिया था। बीजापुर के दरबार में जब इस घटना पर विचार हुआ तब अन्त में शहाजी राजा को मुक्त किया गया।

जब शिवाजी राजा ने दूसरे किलों को अपने आधीन कर लिया तब आदिलशाही के उन्हीं अधिकारियों द्वारा इस बात पर मनोविनोद किया गया कि आप ही की नजरों से फिर शिवाजी राजा यह सब कुछ करते हैं। अर्थात् यह योजना भी समर्थजी की सलाह से सफल हुई। इस प्रकार अनेक किलों पर अपना अधिकार कर लेने पर समर्थजी ने शिवाजी को राज्याभिषेक कराने की सलाह दी। इस सलाह के अनुसार सन् १६७४ में शिवाजी

स्वराज्य स्थापना का यह सारा उद्योग पूर्णरूप से समर्थजी की सलाह से हुआ था। यही नहीं हर छोटी-बड़ी समस्या के अवसर पर शिवाजी राजा समर्थजी से मिलते भी थे। शक्तिसम्पन्न अफजलखान का वध किस प्रकार कैसे किया जाय इसकी संदिग्ध सूचनाएँ समर्थजी ने उन्हें दी थीं। धर्म के कारण देश को बरबाद भी किया गया तो वह सत्कर्म बनेगा समर्थजी की इस प्रेरणा का यथोचित परिणाम हुआ। इन सभी ऐतिहासिक घटनाओं का विस्तृत विवरण शिवाजी के चरित्रों में पाया जाता है। परन्तु बड़े खेद की बात है कि इन सारे महाप्रयासों में समर्थजी किस प्रकार और कैसे हाथ बटाते रहे इस बात का ठोस प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। फिर भी कर्नाटक से मुक्त होकर शहाजी राजा भोंसले का समर्थजी से सन् १६७१ में मिलना राज्य स्थापना के अवसर पर समर्थजी को आमंत्रित करना और समर्थजी का हार्दिक आशीष भेजना अफजलखान वध के अवसर पर समर्थजी का पास-पड़ोस में रहना गुरुवार के दिन प्रति सप्ताह समर्थजी से मिलकर शिवाजी राजा का आज्ञा पाना और प्रेरणामयी देने के हेतु शिवाजी राजा को समर्थजी के द्वारा बार-बार पत्र लिखना आदि अनेक घटनाओं से तथा 'दासबोध' के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि समर्थजी ने अपनी सारी शक्ति स्वराज्य-स्थापना के लिए शिवाजी राजा को सौंप दी थी और समय असमय बचते-बचाते और शत्रु-दल को मारने तथा पराजित करने की सलाह भी वे देते रहे। यही कारण है कि शिवाजी राजा ने सम्पूर्ण राज्य का दान समर्थजी की सेवा में कर दिया। विवाह के अवसर पर भी जो आभूषण पहने थे वे भी शिवाजी ने समर्थजी को भेंट में

चढ़ाए। समर्थजी ने उन सबको लौटा दिया क्योंकि उनका लक्ष्य धर्म-साधना था। इसीलिए शिवाजी के द्वारा मठों, महंतों का परिवार पालन के लिए जो १२१ गाँव इनाम में दिए गए थे उनमें से केवल ११ गाँवों का स्वीकार किया गया और शेष लौटा दिए गए।

ऐसा माना जाता है कि राजकाज में सलाह-मशविरे की अधिक आवश्यकता होती है और यह सही भी है। इसीलिए तो समर्थजी सजग रहकर पूरे ५० वर्ष यानी सन् १६८० तक जबकि शिवाजी की मृत्यु हुई समूचे महाराष्ट्र राज्य में सलाह-मशविरे का काम करते रहे। धर्म-साधना का प्रारम्भ स्थिर कराने के लिए उसके उचित मोड़ की चिन्ता करनी चाहिए और राज्य-साधना के बल उसे स्थायी रूप देना चाहिए, इस बात का प्रमाण समर्थजी का संपूर्ण जीवन चरित्र है। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि धर्म-साधना में तप से काम लेना पड़ता है उसमें भी पराक्रम की आवश्यकता होती है। इन दोनों साधनाओं में समर्थजी ने जो योग प्रदान किया है वह निश्चय ही जीवनदायी है।

समर्थजी ने दुष्टों का संहार कराया, वह चाहे अन्य धर्मीय हो अथवा स्वधर्मीय हो—इस बात का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण चन्द्रराव मोरे का है। जब समर्थजी को इस बात का पता चला कि चन्द्रराव मोरे स्वधर्म और स्वराज्य के विरुद्ध में आदिलशाही का। मुसलमानी सत्ता का पक्षपाती है तब तुरन्त शिवाजी राजा के द्वारा उन्होंने उसका वध करवाया।

धर्मसत्ता की विशेषता को स्पष्ट करने के लिए रामदासजी के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई है जो बड़ी रोचक है।

जब शिवाजी राजा को राज्यसत्ता का अभिमान हुआ और वे एक बार बड़े गर्व के साथ समर्थजी से मिलने आए तब बात-बात में समर्थजी ने एक पत्थर को तुड़वाया और पत्थर में स्थित एक मेंढक को दिखाकर कहा 'भगवान सबकी चिन्ता करते हैं। देखो यह बेचारा पत्थर में बन्द था भगवान ने इसके लिए पानी का भी प्रबन्ध किया है जिससे यह अपना जीवन-यापन कर सके।'



धर्मसत्ता के लिए समर्थजी द्वारा शिवाजी का गर्वनिवारण

समर्थजी का यह भाषण सुनकर शिवाजी राजा सचेत हुए। उन्होंने अनुभव किया कि मैं जो यह समझ रहा था कि मैं महा

राष्ट्र का पालनहार हूँ—यह भ्रम है। मेरा अभिमान करना भूलता है। समर्थजी के संकेत को जानकर वे नतमस्तक हुए और अन्त में अपनी भूल मानकर समर्थजी से उन्होंने क्षमा माँगी।

जिस प्रकार समर्थजी ने राज्य-साधना के लिए योग दिया उसी प्रकार शिवाजी राजा ने भी धर्म-साधना में योग दिया। हमें इस बात को कदापि नहीं भूलना चाहिए कि धर्म-साधना के बल पर ही राज्य की साधना की गई और वह भी विपरीत अवस्था में। एक तो सर्वत्र मुसल्मानों के शासन का मनमाना अत्याचार था। बादशाही के आतंक से सारी प्रजा भयग्रस्त थी। हिन्दुओं में अनेक धार्मिक पंथ थे फिर वे भी आचार भ्रष्ट थे। जनता अकाल से पीड़ित थी। सब अपने आप में लीन स्वार्थवश दूसरों की बुराई चाहने में बहादुरी समझते थे। दूसरों को उपदेश सुनाना विशाल बुद्धि का द्योतक माना जाता था।

समर्थजी ने इस सामाजिक अवस्था में भी आमूलाग्र परिवर्तन किया। पंडितों को पंडिताई का आधार [illegible] धर्म का पाठ पढ़ा कर मुँहतोड़ जवाब दिया। फिर धर्मशास्त्रियों को धर्मशास्त्र का वास्तविक रूप दिखाकर उनकी कमाई खाते हुए 'समर्थ' का [illegible] उलट दी। पुराणिकों को उनके कार्य का दुष्परिणाम क्या होता है यह समझाकर के मूल भाव [illegible] द्वारा समझाया। [illegible] भाषाओं [illegible] रामदासजी ने [illegible] अपनी अपनी भाषा के [illegible] धर्म का विश्लेषण कर उनसे [illegible] बनाया।

यह सारा [illegible] समर्थजी ने किया और स्थान स्थान पर मठों द्वारा कराया और इस तरह हिन्दू जनता को सामूहिक रूप में ऊर्ध्वमुखी बनाया। यही नहीं कि अपने गुरुमंत्र

द्वारा क्रूर आदिलशाही और निजामशाही में भी अपने शिष्यों का जाल फैलाया। जिनमें निजामशाही के केशव स्वामी आगे चलकर समर्थ सम्प्रदाय के महान आश्रयदाता बने। अपने इस जाल से दोनों शाहियों से धर्म के नाम वर्षासन नियत कराकर भीत समाज को अपनी शक्ति का परिचय दिया। इस प्रकार धर्म और शक्ति का मेल बढ़ाकर समय को अपने स्वाधीन कर लिया। सब कहीं स्वराज्यसाधना में योग देने की सामर्थ्य समर्थजी पा सके। प्रारंभिक पाँच वर्षों में शिवाजी ने सांस्कृतिक प्रेरणा व अपने बल-भरोसे पर तथा समर्थजी की सहायता से अनेकों किले अपने अधिकार में कर लिए और स्वराज्य की नींव भी डाल दी। परन्तु इस छोटे धर्मक्षेत्र से महाराष्ट्र धर्म का विस्तार बढ़ाकर हिन्दुओं का राज्य स्थापित करना असम्भव था। भारत का भ्रमण कर लेने से समर्थजी ने यह जान लिया था कि महाराष्ट्र की शक्ति ही हिन्दुस्थान में धर्म की स्थापना करने के वास्ते काम आ सकती है। इसी उद्देश्य से उन्होंने अपने मठों और शिष्यों का जाल सर्वत्र फैलाया था। परन्तु संपूर्ण महाराष्ट्र पर अधिकार जमाये बिना हिन्दू-पद-पातशाही की कल्पना करना भी व्यर्थ था। संपूर्ण मुस्लिम शासन पर धावा बोलकर विजय पाना तो असंभव ही था। इस दशा में महाराष्ट्र की धार्मिक वैचारिक त्यागमय शक्तिशाली और संवेदनशील नीति के प्रचार-साधन को अपनाना ही समर्थजी के लिए प्राप्त कर्तव्य था। समर्थजी ने महाराष्ट्र राज्य या महाराष्ट्र धर्म का जो प्रयोग किया है वह प्रांत हित की भावना को उदय कर नहीं किया। 'दासबोध' ग्रंथ स्वतः यह सिद्ध करता है कि वे हिन्दुओं का राज्य इस देश में निर्माण करना चाहते

थे और महाराष्ट्र यानी ऊँचे स्वर वाले महाराष्ट्र धर्म की प्रतिष्ठापना करना चाहते थे। महाराष्ट्र में पैदा होने के कारण स्वाभाविक ही महाराष्ट्र में यथोचित अनुकूलता प्राप्त होने की संभावना थी और फिर महाराष्ट्र की भूमि भी इस कार्य के लिए अनुकूल थी।

जब आदिलशाह का आक्रमण हुआ तब स्वाभाविक ही बालक शिवाजी घबराए। उन्हें धीरज बँधाते हुए समर्थजी ने कहा—

जो अर्जित राज्य है उसे सुरक्षित करें,
बहुतेरा करें अर्जित का, महाराष्ट्र राज्य विस्तार।

एक ओर शिवाजी की सहायता करना दूसरी ओर जनता में शिवाजी के प्रति श्रद्धा और भक्ति जगाना—ये दोनों कार्य समर्थजी साथ-साथ करते रहते थे। यह सारा उद्योग केवल धर्मप्रेम और राष्ट्रप्रेम के बल पर होता रहा। न शिवाजी के पास किसी प्रकार का धन था न समर्थजी के पास। यदि समर्थजी राज्य साधना में योग न देते तो कदाचित उन दिनों में स्वराज्य की स्थापना भी न हो सकती। शिवाजी के प्रति जनता में भक्तिभाव जगाने के हेतु समर्थजी स्वयं सबसे प्रचार कर यह कहते थे—

शंकरजी ने ही मानो शिवाजी के रूप में अवतार लिया है। उन पर भवानी माता प्रसन्न हैं। ये स्वधर्म और स्वराष्ट्र के लिए ही यह जीवन धारण किए हैं। अतः मनुष्य रीति से उनकी सहायता की जाए। उनकी आज्ञा को भगवान की कृपा समझें। स्वाभिमानपूर्वक जीवन बिताने के लिए युद्ध के सिवा अब कोई दूसरा साधन शेष नहीं रहा। धर्म के लिए मर जाना या मारने में ही अब हमारा कल्याण है। जो मनन धार सेना में भरती होकर अथवा उचित सहायता दान

कर शिवाजी की सहायता करें।"

औरंगजेब बहुत चालाक था। एक बार एक हिन्दू सरदार जयसिंह को शिवाजी के पास भेजकर किसी तरह उनको वश में करने का प्रयास उसने किया। अर्थात् शिवाजी को बहुत कुछ लालच भी दिखाया। जब इस विषय में शिवाजी ने समर्थजी से वार्तालाप किया तब समर्थजी ने स्पष्ट रूप से यह बतलाया कि हिन्दू धर्म और हिन्दू राज्य की प्रतिष्ठापना में अगर जयसिंह मदद देता हो तो उसे राजा भी बनाओ। अन्यथा हिन्दुओं के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करने पर उसकी ताड़ना करो। उसने कहो—

म्लेच्छ दुर्जन उग्र दिनों से मचाए हैं बलवा
तो सावधान रहें दिन रात, अखंड यह धर्म हित।

अंत में जयसिंह को खाली हाथ लौटते देख औरंगजेब चिढ़ गया। उसने एक बड़ी सेना के साथ सेनापति अफजलखान को भेजा। अफजलखान स्वयं कुशल सेनानी और शक्तिशाली था। उसकी अगणित सेना के आक्रमण का समाचार सुन शिवाजी चिन्तित हुए पर समर्थजी यह जानते थे कि जयसिंह को लौटाने पर औरंगजेब कोई बड़ा षड्यन्त्र रचेगा। इसलिए उन्होंने उसके प्रतिकार की योजना भी बना रखी थी। जब समर्थजी ने उसके आगमन की वार्ता सुनी तब वे स्वयं शिवाजी के पास रायगढ़ पहुँचे। उन्हें देख शिवाजी को अपूर्व आनन्द हुआ। वे बोले "महाराज मैं स्वयं अभी अभी साक्षात्कार के लिए आने वाला ही था। परन्तु इस कठिन अवसर पर आने की आपने बड़ी कृपा की।

समर्थजी बोले "मैं यह जानता हूँ राजा साहब। घबराहट के कारण सोच-विचार में तुमसे गलती होने की संभावना जान मैं



मुकदमों का निबटारा करने के लिए मार्गदर्शन के हेतु समर्थश्री स्वयं मंत्रणा सभा में उपस्थित होते हैं।

स्वयं आ निकला। लेकिन याद रखो हर समय मैं तुमसे न मिल सकूँगा। इसलिए सवयी निळोपंत और बाळाजी भवजी (शिवाजी राजा के मंत्री) से परामर्श कर जगा करो। ये दोनों भी समर्थ हैं। और फिर तुम जैसे का नेतृत्व भला ये कहाँ पाएंगे। यह कहकर समर्थजी ने उन मन्त्रियों से बाहर जाने के लिए कहा और वे एकाकी शिवाजी से मिले। समर्थजी ने कहा "यह सत्य है कि किसी भी अवस्था में इस आक्रमण का प्रतिवाद हम नहीं कर सकते। अतः अफजलखान की प्रवृत्तियों को थाम उससे मित्रता के नाते मिलकर ही संयोग पाकर एकांत में उसका वध करना होगा। उसके स्वागत में किसी प्रकार की आनाकानी न हो। यहाँ तक कि प्रत्यक्ष में मिलन के बाद 'उचित योजना सम्मत करूँगा' यह भी उसे आश्वासन दो। याद रखो वह बलशाली है। प्रत्यक्ष में उससे मुकाबला नहीं कर सकोगे। धोखे का मार्ग ही तुम्हारे लिए खुला है। उससे मिलते समय मूल्यवान वस्त्र पहनो जिससे वह अदाज लगाएगा कि तुम विलासी हो। जब उससे तनहाई में बातें होंगी तब मौका पाकर उसके पेट में बघनखा घुसेड़ देना। यदि तुम सफल न हो सके तो चारों ओर से उस पर धावा बोलने की तैयारी भी करनी होगी। प्रतापगढ़ की गोद इस कार्य के लिए उपयुक्त है। यदि विजयी हुए तो सारा राष्ट्र तुम्हारे गुण गाएगा और पराजित हुए तो धर्म के काम आओगे। नश्वर जीवन की चिंता छोड़ शाश्वत जीवन को पाने के लिए प्रभु रामचन्द्रजी की कृपा से इसे सुअवसर ही मानो।'

समर्थजी की सूचना के अनुसार शिवाजी ने अफजलखान का वध किया। तब प्रसन्न होकर समर्थजी ने अपने हाथों दाक्षिण देवता

भवानी माता की प्रतिष्ठापना प्रतापगढ़ में की।

> योजना कर यवन का वध कराया
> फिर वास्कळ क्षेत्र का निर्माण हुआ।
> कुलस्वामिनी की प्रतिष्ठापना की
> प्रतापगढ़ किले पर।
>
> —दासबोध

औरंगजेब इसके पहले एक और चाल खेल चुका था, जब शाइस्ताखान के द्वारा विवाह के अवसर पर शिवाजी को बड़े सम्मान के साथ आमन्त्रित किया गया था। विवाह खुद शाइस्ताखान का था और वह पूना में होने जा रहा था। शाइस्ताखान की यह योजना थी कि किसी भी रूप में शिवाजी को अपने जाल में फँसा कर गिरफ्तार कर ले।

इस विषय में जब शिवाजी समर्थजी से मिले तब समर्थजी ने बतलाया—प्रत्यक्ष युद्ध की अपेक्षा ऐसे मौके ही अगर बार-बार आते रहें तो बहुत अच्छा होगा। क्योंकि महान संग्राम के लिए हम अभी तक तैयार नहीं हैं। इसलिए यह अवसर खोना हमारे लिए लाभदायक न होगा। परन्तु याद रखो कोई विशेष हानि न उठाना और अपने-आपको बचाकर भाग निकलना। कहीं जाल में न आना।

इतिहास साक्षी है और वह मकान भी पूना में मौजूद है जहाँ शिवाजी ने शाइस्ताखान की उंगलियों को काटा और उसे पूना से भगा दिया। इसी घटना के संकेत में समर्थजी ने शिवाजी को जो सलाह दी वह 'दासबोध' में इस प्रकार अंकित है—

> म्लेच्छों को साथ लो एक उनके दिल बना लो
> छिपाकर या लुककर, कुचल दो दुष्ट म्लेच्छों को।

औरंगजेब ने जब यह देखा कि शिवाजी को जीतना आसान बात नहीं है तब उसने उनको आमन्त्रित किया। यद्यपि आगरा शत्रुदल का गढ़ था फिर भी योजनापूर्वक समर्थजी से परामर्श कर शिवाजी राजा आगरा गए और वहाँ से चकमा देकर निकल भी आए अर्थात् इस भीषण और महान उद्योग में समर्थजी ने ही उनकी सहायता की। जब वे आगरे से लौटे तो जहाँ कहीं समर्थजी के शिष्य थे उनसे सहायता प्राप्त कर औरंगजेब की सत्ता को और शासन को चकमा देते हुए महाराष्ट्र में सुरक्षित पहुँचे।

इस प्रकार अनेकों घटनाएँ घटीं जो प्रत्यक्ष युद्ध की अपेक्षा भयंकर थी। इन घटनाओं के कारण ही अपनी शक्ति और बुद्धि के बल एवं प्राणों की बाजी लगाते हुए शिवाजी राजा अपने काम में सफल बने। परिणामस्वरूप शक्तिशाली औरंगजेब भी पराजित हुआ। यदि प्रत्यक्ष युद्ध छिड़ता या मुस्लिम सेना से मुकाबला होता तो कदाचित् शिवाजी राजा पराजित हो जाते। यह स्पष्ट है कि इन सारे महाप्रयासों के सूत्रधार समर्थजी थे।

जब फ्रांस में तुर्क सम्प्रदाय की जाति ने मुसलमानों के समान ही अनन्वित अत्याचार किए थे तब समर्थजी के समान ही एक ईसाई धर्मगुरु पीटर ने राज्य क्रान्ति में स्वयं हिस्सा लेकर धर्मक्षेत्र के उन सभी महानुभावों को युद्धप्रवण बनाया जो केवल धर्म और प्रार्थना को ही सब कुछ समझते थे। हिन्दुओं के समान ही फ्रांस के ईसाई आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से कुचले जाते थे। उन्हें किसी प्रकार की स्वाधीनता न थी। धर्मपरायणता भी लुप्त हो चुकी थी। इस दशा में धर्मगुरु पीटर ने जब देखा कि स्वराज्य के बिना स्वधर्म की रक्षा असंभव है तब उसने गुप्त रूप से वे

सारी कार्यवाहियाँ की जो समर्थजी ने यहाँ करती थीं। राजनैतिक और धार्मिक नीति की दृष्टि से यदि हम समर्थजी के जीवन चरित्र का और उनके काम का समन्वय करेंगे तो हम यह कहना पड़ेगा कि समर्थजी धर्मयुग राजनीति के इस संसार में अनेक माने जाएँगे।

जिस प्रकार राज्य साधना में समर्थजी ने अपनी सारी शक्तियाँ लगा दीं उसी प्रकार, केवल राजनीति उनके जीवन का लक्ष्य न होने से धर्म और कर्म-साधना में भी उन्होंने पूरा योग दिया था। यों तो राज्य-साधना उनका अंतिम लक्ष्य माना जाता है। परन्तु 'दासबोध' में दो सौ समास हैं उनमें केवल पाँच समास (भाग) राजनीति के बारे में उन्होंने लिखे हैं। फिर प्रथम शिष्यों को जो प्रमुख बीस आज्ञाएँ दी हैं जो लक्षण के रूप में अंतर निहित हैं उनमें राजनीति का क्रमांक पन्द्रहवाँ है जिससे यह स्पष्ट होता है कि राजनीति का कार्य समर्थजी के जीवन का आदर्श नहीं था। परन्तु राजनैतिक स्वतन्त्रता के बिना हिन्दू जनता संतोष की साँस भी नहीं ले सकती—समर्थजी ने जब यह देखा तब धर्मसाधना के लिए राज्य-साधना के क्षेत्र में योग देने के वास्ते वे तैयार हुए। अतः धर्म-साधना के हित उन्हें राज्य-साधना में अपने जीवन का बहुत कुछ समय व्यतीत करना पड़ा। फिर भी राज्य साधना के बारे में वे कहते हैं

राजा आचरे राज धर्म क्षत्री आचरे क्षात्र धर्म,
ब्राह्मण आचरे स्वधर्म बहुविध ढंग से ॥
तुरंग सहज और सवारी प्रथम देखे निर्विकारी
निकलने पर भाग उठते हैं छोटे बड़े समर्थ भी ॥

समर्थजी के इन वचनों से उनकी राजनैतिक और धार्मिक प्रवृत्ति का अनायास पता चलता है। यद्यपि उन्होंने मुसलमानों के विरुद्ध प्रकट रूप से चेतावनी दी परन्तु उनमें साम्प्रदायिकता न थी—मुस्लिम द्वेष नहीं था। अपितु सद्धर्म सद्विचार सदाचार, सत्ययुग निर्माण हो यही वे चाहते थे। यह सत्य है कि जो इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध थे उनको शत्रु समझ धर्मकार्य के लिए धर्म-बुद्धि से उनका निपात करने की उन्होंने प्रकट रूप में सलाह दी थी। यह भी सत्य है कि हिन्दुस्थान में हिन्दुओं का राज्य निर्माण हो यह वे चाहते थे। उनकी इस भूमिका के मुख्य दो कारण हैं। एक आततायी मुसलमानों के पाशविक अत्याचार और दूसरा धर्म बुद्धि का विनाश। इन दोनों कारणों का विनाश यही एकमात्र इलाज जानकर उन्होंने धर्म-बुद्धि को जगाया। क्षात्र प्रवृत्ति उसमें भर दी। इस भूमिका पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि धर्म के लिए अधर्म का नाश करने पर वे उतारू हुए। राजनीति का समझाते हुए उन्होंने इसीलिए सन्मार्ग लगने के लिए साग्रह अनुरोध किया है। जो गृहस्थी को त्याग कर परमार्थ में लीन होना चाहते थे उनसे भी स्पष्ट शब्दों में कहा कि गृहस्थी के बिना परमार्थ नहीं किया जाता। गृहस्थी शब्द का प्रयोग समर्थजी ने व्यापक अर्थ में किया है। गृहस्थी को सफल बनाने के लिए अनेक बंधनों के पालन की आवश्यकता होती है और ये बंधन मानवता के आधार पर स्थित होते हैं इसीलिए गृहस्थी को त्यागकर परमार्थ करने वालों को समर्थजी ने फटकारा। समर्थजी के जमाने में गृहस्थ-जीवन और गृहस्थी धर्म का भी लोप हुआ था। ऐसी दशा में ही उन्होंने इन धर्मों के परिपालनार्थ सद्धर्म, सद्विचार, सदाचार आदि नैतिक

गुणों की ओर जनता को आकर्षित किया। जो मुसलमान इन गुणों की ओर आकर्षित हुए उन्होंने अभय पाया और जो अत्याचार को ही अपनाए थे उन्हें मौत के घाट उतारा गया। वे केवल मुसलमान हैं इसलिए नहीं अपितु वे अत्याचारी हैं इसलिए और उनके द्वारा अतिक्रमण होने पर। समर्थजी के कारण शिवाजी राजा गो-ब्राह्मण प्रतिपालक इसी भूमिका के आधार पर बने। इतिहास स्वयं इस बात को स्पष्ट करता है कि असहाय मुस्लिम युवती को शिवाजी ने अपनी माता मान उसे यथोचित गौरव दिया था। अतः समर्थजी में साम्प्रदायिकता की ओछी भावना नहीं थी—वह सर्वसंग्रही, सर्वहितदायिनी और सर्वउत्कर्षवर्धिनी थी। मुसलमानों को अपने धर्म के अनुसार उन दिनों जीवन यापन करने का पूरा अधिकार भी था और वे सुरक्षित भी थे। समर्थजी ने जिस धर्म की मुख्य रूप से समाज को दीक्षा दी उस धर्म के भाव ये हैं

कहार चमार हो या नाई
संतोष पहुँचाए उसे निरन्तर।
जो भजता है दिन-रात उन्हें
भक्त कहलाता भगवान का॥
दुःख न पहुँचाए किसी को,
उच्च हो या नीच हो।
जो अंतरात्मा को जाने परखे,
सज्जन कहलाता सिधाई से॥
इह लोक में यश पाता है
गृहस्थी धर्म निभाने पर।

परलोक में सुख पाता है
परोपकार करने पर ॥
ईशभाव शरीर धर्म,
त्यजने पर न त्यजे कभी ।
भोग भोग भजने बहु में
शरीर धर्म निभाएगा ॥
समदृष्टी समभाव
सब हित दया सब ।
निज वर्ण त्यजने पर,
समानता पाता नर ॥
न्याय से आचरे धर्म,
जूझे अन्याय से सदा ।
एक मन एक रूप,
सब, बने पाती देह का ॥
गरीबी को ढूंढकर
उपकार करे सर्वथा ।
लोक सम्यक् उपकार से,
कल्याण पाता है नर ॥
भक्ति विधि प्रेम पाए,
सुख सागर उमड़ आए ।
राम राज्य बने तब
संतोष पाए हर कोई ॥

समर्थजी की यही नीति राज्य साधना में मुख्य रूप से बरती गई थी। न शिवाजी राजा में अधिकार की लालसा थी न समर्थ जी में। शिवाजी के लाख प्रयत्न करने पर भी समर्थजी ने अपने संप्रदाय के अनुसार निश्चित कार्यवाही में किसी प्रकार का अंतर

न पसन्द किया। यदि वे चाहते तो राजगुरु के रूप में बड़े आनन्द और गौरव के साथ अपना जीवन बिताते। परन्तु वे धर्मसत्ता



उपरोक्त उपदेश-पत्र शिष्य कल्याण के द्वारा समर्थजी ने भेजा जिसे महामन्त्री शिवाजी राजा को पढ़कर सुना रहे हैं।

के निर्माण में ही अपना मन लगाना चाहते थे। निजी सम्प्रदाय के बारे में भी उनकी यही राय थी। और फिर स्वराज्य भले ही स्थापित हो चुका हो परन्तु उसकी सुरक्षा का भार बहुत बड़ा था। उस भार को ढोने की सामर्थ्य जब तक प्रत्येक व्यक्ति में निर्मित नहीं होती तब तक राज्य-साधना के कार्य से वे किस

प्रकार छुटकारा पा सकते थे ? राज्य की अपेक्षा धर्म श्रेष्ठ है और धर्म के बल भरोसे पर ही राज्य स्थिर हो सकता है तथा धर्म को चिर जागृत रखने के लिए विदेह अवस्था के अस्तित्व की निरन्तर आवश्यकता होती है। इसी भूमिका को निभाने के लिए समर्थजी ने जीवन धारण किया था। मठ व न पद चाहते थे न अधिकार। प्रभु रामचन्द्रजी के द्वारा दास की जो उपाधि उन्होंने पाई थी उसी को सार्थक बनाने का प्रयास उन्होंने आजीवन किया।

समर्थजी के बरताव की छाप शिवाजी राजा पर भी पूर्ण रूप से लग चुकी थी। शिवाजी राजा ने समर्थजी की सेवा में जो पत्र भेजा था उससे यह बात स्पष्ट होती है

शिवाजी राजा का पत्र समर्थजी के नाम

आश्विन शु० १० श्री श्री रघुपति
शके १६०० श्री मारुति

'सेवा में श्री सद्गुरुवर्य, श्री सकलतीर्थरूप श्री कैवल्यधाम श्री स्वामी समर्थ।

चरणरज अपने माथे पर धरकर शिवाजी राजा श्री चरणों पर लिपट यह प्रार्थना करता है कि आपने अपनी कृपादृष्टि से मुझे सनाथ किया। आपसे आज्ञा पाई कि 'धर्म स्थापना के बल स्वराज्य की स्थापना करके गो-ब्राह्मणों की सेवा करूँ जनता को पीड़ा से मुक्त कर उसकी रक्षा करूँ और व्रत धर्म से परमार्थ करूँ। मैं जो चाहूँगा वह प्रभु रामचन्द्रजी की कृपा से पूरा होगा।

आपकी इस आज्ञा के अनुसार मैंने प्रयत्न कर म्लेच्छों का नाश किया। दौलत को जुटाकर राज्य की रक्षा के लिए पक्के स्थानों का प्रबन्ध किया। अर्थात् जो कुछ मैं कर सका वह आप

ही की प्रेरणा से और जो सफलता पाई वह आप ही के आशीर्वाद से। अतः जो कुछ पाया और जो कुछ किया वह आप ही के चरणों पर समर्पित कर अब मैं चाहता हूँ कि आपके संपर्क में रहकर आपकी सेवा का अवकाश पाऊँ। लेकिन आपने मेरी यह प्रार्थना स्वीकृत नहीं की। आपने पुनः आज्ञा दी कि पूर्व-सूचना के अनुसार चलने पर चमत्कार और सेवा का फल पाओगे। इस आज्ञा को भी मैंने शिर आँखों पर पालने का निश्चय किया। इसके बाद मैंने श्री चरणों की सेवा में यह निवेदन किया कि किसी एक स्थान को निश्चित कर वहीं रहने की कृपा करें और अपने सम्प्रदाय का विस्तार करें। परन्तु आपने मेरी इस अभिलाषा को भी नहीं माना। आपने निश्चय किया है कि वनप्रदेशों में सतत भ्रमण करके ही गुफाओं में रहकर ही मैं अपना जीवन बिताना चाहता हूँ।

वस्तुतः सारा राज्य विस्तार आप ही के बल-भरोसे और आशीर्वाद से होने के कारण मैंने यह इच्छा व्यक्त की कि जहाँ कहीं जितने मठ महन्त होंगे उनका पूजा-पाठ और धार्मिक उत्सव चलाने के हेतु जितनी भी भूमि समर्पित करना चाहेंगे उतनी भूमि समर्पित करूँ। परन्तु आपने अपने सम्प्रदाय को चलाने के लिए कभी भी और किसी प्रकार भी अपने मत को व्यक्त नहीं किया।

फिर भी श्री के आसपास के १२१ गाँव और १२१ गाँवों में प्रति ११ एकड़ जमीन और जहाँ-जहाँ हनुमानजी की स्थापना हुई है उन-उन गाँवों में ११ एकड़ जमीन श्री चरणों पर समर्पित करके मैं यह चाहता हूँ कि इन भूमियों के उत्पन्न (आय) से सम्प्रदाय का प्रचार हो और पूजापाठ उत्सव आदि का खर्च चले। अतिरिक्त

प्रति उत्सव के अवसर संकल्पित सेवायें प्रदान करने का प्रयत्न करता रहूँगा। अनाज और नकद प्रतिवर्ष नियमित रूप से उत्सव के अवसर पर भिजवाने का प्रबन्ध कर चुका हूँ। शेष मैं अपने सर्वस्व के साथ संप्रदाय चलाने के वास्ते हमेशा प्रस्तुत हूँ। सेवाएँ मिलें।"

शिवाजी राजा का यह पत्र स्वयं इस बात का साक्षी है कि समर्थजी की सहायता व प्रेरणा से ही महाराष्ट्र धर्म का जागरण और महाराष्ट्र राज्य का निर्माण हुआ। परन्तु स्वयं समर्थजी अपनी अवस्था पात्रता एवं उद्देश्य को नहीं भूले थे। निश्चित योजना के अनुसार ही उनकी कार्यवाही जारी थी। धर्म के कारण राज्य और राज्य के कारण धर्म स्थित हो सकता है—वर्धित हो सकता है—अपनी इस भूमिका के अनुसार अपने शिष्य का कार्य वे करते रहे। आगुन धर्म का प्रभाव शिवाजी राजा के पत्र से स्पष्ट होता है।

समर्थजी का पत्र शिवाजी के नाम

समर्थजी अनुभूति के बिना किसी बात का उच्चारण तक न करते थे। जिस बात का वे उच्चारण करते थे उसका मनन और उसके हानि-लाभ का पूर्ण रूप से विचार करते थे। यद्यपि वे शिवाजी से बार-बार मिलते रहे परन्तु 'राजधर्म नीतिधर्म, क्षात्र धर्म' आदि विषय 'दासबोध' में उन्होंने केवल शिवाजी राजा के लिए लिखे हैं। उनके वचन कानून का रूप धारण कर शिवाजी राजा के लिए हमेशा मार्गदर्शन और चेतना भरने का काम करते रहे। इच्छा के अनुसार शिवाजी ने भी हर समय सफलतापूर्वक काम किया यह देखकर समर्थजी ने अपनी प्रसन्नता दर्शाने के लिए

और शिवाजी का यथोचित गौरव हो इसलिए जो पत्र मिला है वह ज्यों का त्यों दिया जा रहा है।

"दौलतमन्द होकर भी योगी का जीवन बिताकर तुम निश्चय के साथ जनता का आधार एवं आश्रय स्थान बन चुके हो। तुम्हारे परोपकार का गौरव वाणी के द्वारा नहीं किया जा सकता। तुम सचमुच नरपति हो। अनेक घोड़ों हाथियों और मनुष्यों के स्वामी हो। सामर्थ्य, यश, कीर्ति और पुण्य के प्रताप से तुमने महाराष्ट्र भूमि को पावन किया है। जनता पूर्ण रूप से यह जान चुकी है कि तुम सुखाचारी, परोपकारी, समतावादी दानशूर और क्षमाशील हो। धर्म जागृति कर उसकी रक्षा के लिए तुम हमेशा सावधान रहकर समय-असमय पर असीम आत्मशक्ति का परिचय देते हो। यद्यपि धर्म का नीति का विनाश हुआ था परन्तु तुमने अपने प्रताप से धर्म का उद्धार कर अनेक तीर्थ-स्थानों का निर्माण किया। गो ब्राह्मण और पण्डितों का उचित सम्मान कर उन्हें आश्रय दिया। मुझे पूर्ण विश्वास है कि समूचे हिन्दुस्थान में त्यागमय जीवन बिताकर समता-बुद्धि से धर्म की रक्षा करने वाला तुम्हारे अतिरिक्त कोई नहीं है। सचमुच तुम शिव के अवतार हो। पूर्णरूप से कल्याणकारक हो। अधार्मिकों का वध करके धराराष्ट्रियों को खदेड़कर धर्म की शरण में आने वालों का उद्धार करने से तुम्हारी कीर्ति को चार चाँद लग गए हैं। यद्यपि अब तुम आ गए हो और अपने कार्य विस्तार को बढ़ा रहे हो पर तुम्हारी अनुपस्थिति में ऐसे अनेकों काम रुक गए जिनके विस्तार में अब देरी न होनी चाहिए। मुझे खेद है कि आगमन के पश्चात भी तुम्हारे दर्शन मैं पा न सका।

शिवाजी राजा को यह पत्र मानो एक कार्यपत्र ही है जो स्वयं समर्थजी ने लिखा है। पत्र के भाव से यह स्पष्ट होता है कि आगरे के पाशविक कारा से मुक्त होकर जब शिवाजी राजा महाराष्ट्र में पधारे तब यह पत्र लिखा गया है। शिवाजी राजा का छुटकारा और उन्हें महाराष्ट्र तक पहुँचाने की योजना समर्थजी ने ही बनाई थी और उनकी अनुपस्थिति में राज्य के कार्यों का प्रबन्ध भी समर्थजी ने किया था। यह बात इस पत्र के आधार से अनायास स्पष्ट होती है। समर्थजी कार्य में इतने मग्न थे कि शिवाजी के आगमन का समाचार पाकर भी वे उनसे न मिल सके।

लगातार तीस वर्ष दीर्घोद्योग करने पर जब महाराष्ट्र में धर्म सत्ता का उदय हुआ तब समर्थजी को महान आनन्द हुआ। वे कहते हैं—

म्लेच्छों का संहार कर, पापी औरंग्या को भगा,
धर्मक्षेत्र बना धर्म पूजापाठ चलाने को।।

"महाराष्ट्र में महाराष्ट्र राज्य और महाराष्ट्र धर्म की प्रतिष्ठा पना होने से सर्वत्र आनन्द छा गया है। अब किसी बात का भय नहीं रहा है क्योंकि सारे के सारे पापी और अधार्मिक दुष्टों का संहार हो चुका है। अब सर्वत्र धर्मक्षेत्र निर्माण हो चुके हैं। धर्म-कार्य से संतोष पहुँचाने के लिए यज्ञ प्रारम्भ किए गए हैं। प्रत्येक मनुष्य स्वाधीन बन अपनी इच्छाशक्ति के अनुसार अपनी-अपनी कारीगरी दिखाने में व्यस्त है। अब न कहीं अत्याचार होंगे न परपीड़ा का भय होगा। धर्म का वैभव बढ़ाने के लिए क्या राजा और क्या प्रजा दोनों एक दूसरे के साथी बन सेवाभाव में लीन अपनी-अपनी कार्यक्षमता दिखा रहे हैं। अब संपूर्ण रूप से यहाँ रामराज्य का

निर्माण हुआ है। नीति और न्याय के पालन में ही सारे के सारे जुट गए हैं। मैंने जो कुछ चाहा वह सफल बना। आजीवन जो कुछ सहा, भोगा उसे भूलकर अब दिल चाहने लगा है कि आनन्द भवन का मंगल देखने के लिए पुनः एक बार जन्म धारण कर इस आनन्दभवन में वास करूँ।"

समर्थ रामदासजी के इन वचनों से यह बात स्पष्ट होती है कि स्वधर्म और स्वराज्य की प्राप्ति के बाद महाराष्ट्र में बहुत चरस्व स्वर्ग का निर्माण किया था। समूचा महाराष्ट्र देश धर्म के उच्चासन पर स्थित होकर भौतिक शक्ति और साधनों से युक्त बन पूर्ण रूप से सुख के सागर में निमग्न हो गया था।

## अंतिम पद-यात्रा

अयोध्या के प्रभु रामचन्द्र को अपने सन्निकट चाफळ में स्थित कर समर्थजी ने संतोष की सांस ली। प्रभु रामचन्द्रजी की सुन्दर मूर्तियाँ तंजावर में गढ़ाकर समर्थजी स्वयं ले आए थे। मूर्तियों की विधियुक्त स्थापना करने के पश्चात् जब समर्थजी को इस बात का पता चला कि शिवाजी राजा बहुत बीमार हैं तब वे स्वयं शिवाजी राजा के पास विरवाडी ग्राम में गए। उसी समय शिवाजी राजा ने रामनगर बसाया और अपने धर्मकार्य का यथोचित स्थायी प्रबन्ध किया। इस बीमारी से मुक्ति पाने के बाद शिवाजी महाराज समर्थजी के सहवास में लगभग डेढ़ महीना रहे। इस दीर्घनिवास में भी वे समर्थजी से भविष्यत के प्रबन्ध सम्बन्धी परामर्श करते रहे। समर्थजी ने यद्यपि यह जान लिया था कि शिवाजी राजा अब शरीर की धारणा में असमर्थ हो चुके हैं फिर भी किसी प्रकार के भाव को व्यक्त किए बिना वे

शिवाजी राजा को परामर्श देते रहे। योजित कार्य और उसकी दिशाओं का ज्ञान प्राप्त कर शिवाजी राजा रायगढ़ के लिए रवाना हुए।

एक शिष्य जब उनकी मृत्यु का समाचार लेकर समर्थजी के पास पहुँचा तब समर्थजी ने कहा "मैं सब कुछ जानता हूँ।" यह कहकर उन्होंने मौन धारण किया। अन्न और जल का वर्जन कर वे हमेशा चिंतित रहने लगे।

शिवाजी के पश्चात् उनके सुपुत्र संभाजी सिंहासन पर आरूढ़ हुए। वे यद्यपि बड़े बहादुर थे परन्तु सदाचारात्मा थे। जब उनके द्वारा सौतेली माँ मंत्री अनाजी आवजी का अकारण वध हुआ तब समर्थजी को महान दुःख हुआ। समर्थजी ने उनको तुरन्त पत्र लिखा

> "अपने मन के संदेह को दूर फेंक दो। सर्वत्र मंगलमय वातावरण निर्माण करो। जो अपने पास है उसे सुरक्षित रखकर और अधिक कमाओ। यदि जनता की सेवा कर विश्वास संपादन करोगे तो महाराष्ट्र राज्य का विस्तार अवश्य कर पाओगे। एकाकी रहकर मनन और चिंतन से अपने मन को शुद्ध बनाकर पिता शिवाजी राजा के अनुसार अगर चलोगे तो इच्छित कार्य में सफलता प्राप्त कर सकोगे।

शिवाजी के अनुसार ही संभाजी राजा समर्थजी से मिलने के लिए अनेक बार गए थे। परन्तु शिवाजी राजा के चल बसने पर और शारीरिक शक्ति के जवाब देने पर समर्थजी दिन प्रतिदिन उदास और क्षीण होने लगे। उनकी इस अवस्था को देखकर शिष्य वर्ग बहुत बेचैन हुआ। जब उसने आर्त स्वर से समर्थजी से बेचनी

का कारण पूछा तब समर्थजी बोले—

"यद्यपि मेरी देह और वाणी अंतर्मुख बन गई है परन्तु 'दासबोध' के रूप में मैंने चिरजीवन पाया है और मुझे विश्वास है कि मेरा यह आत्मबोध आप लोगों के लिए निरंतर पथप्रदर्शन करता रहेगा। शरीर और उसके मोह-पाश में फँसकर दुःखी न बनो।

अपने प्रिय शिष्यों को यह अंतिम उपदेश देकर और अपने पश्चात् सम्प्रदाय के प्रबंध से संबंधित सूचनाएँ देकर समर्थ रामदासजी ने "श्री राम जय राम जय जय राम" के जयजयकारों में अपने प्राणों को माघ वदी ९ सन् १६८१ के दोपहर को पंचमहा प्राणों में विलीन कर दिया।

# राज्य-साधन नीति

तेरे ही बल बोलूं तेरे ही मार्ग चलूं
योग साधना राज्य साधना तेरे बल निभाऊं।
त्रिलोक में जितने प्राणी, भक्ति बिन वृथा बने,
अधमजनों की किसे चिंता, वे तो बने तुमसे को।
भक्ति पूजित जहाँ होती वैभव वहाँ विराजती
विरोधी जन अपापी हैं, सामर्थ्य पाई वर प्रभु से।

—दासबोध

समर्थजी की यह राज्य-साधना अपनी नीति को इस प्रकार प्रकट करती है

देवद्रोही सब कूटे हैं कहीं नीट भगाना होगा,
देवदास पायेंगे मम इसमें संदेह नहीं है।
देव सिर पर धारण कर, सब मचाए धूमधाम,
देश डूबे या तरे, मम स्थापना के विधान में।
किसी का भरोसा न करो स्वयं सोचो और विचारो,
भक्ति जागो अपने आप, हर किसी के काम है।
सोचो, समझो बहुत कुछ, प्रभु मित्रों को परख लो,
धीरज को बनाए रखो, समय-असमय बहु काम आवे।
हर किसी से काम लो पास अपने फटकने न दो,
कोट बने सब सँवारो, प्रभु राम की कृपा से।
धर्मद्रोही राष्ट्रद्रोही ढूंढकर चुने चुनाए,
यथाशीघ्र संहार हो यथातथ्य सोच-विचार से।

लोक नीति को अपनाओ, प्रभु की कृपा मानकर,
स्वयं सहो अपकीर्ति को धीरज बल जिससे बढ़े।
इशारों से काम न लो बोलो सो वह न लिखो
जो लिखना है वह न कहो केवल मुख से बताकर।
नेता के बिन काम न चले, नेता बनाओ हर एक को
धर्महित को काम आवे भावे प्रभु रामचन्द्र को।
एकाकी जीवन बिताओ, विचार मंथन चालू रखो
मन में प्रकटे मन में भावन, सर्वभूत हित रती।

—दासबोध

समर्थजी के ये वचन इस बात को अनायास स्पष्ट करते हैं कि उनकी राज्यनीति क्या थी और वे उसमें कितने पारंगत थे। इस प्रकार के अनेक वचनों का अभ्यास करने के बाद यह प्रतीत होता है कि कपटनीति राज्यशास्त्र धर्मनीति समाजधारणा आदि विषयों का उन्होंने गहरा अध्ययन किया था। अर्थशास्त्र को भी उन्होंने आँख से ओझल नहीं होने दिया। नीति के अवलम्बन में केवल एक बात को ध्यान में रखा कि कहीं धर्म को चोट न पहुँचे। इसके अतिरिक्त सभी उपायों का अवलंब उन्होंने किया। चाहे वह युक्त हो या अनयुक्त हो सचाई पर आधारित हो या झूठ पर, छल-कपट से हो या सरलता से। यहाँ तक कि हिंसा-अहिंसा का भी उन्होंने ख्याल नहीं किया। उन्हें इस बात का पक्का भरोसा था कि मैं जो नीति बरतता हूँ वह प्रभु रामचन्द्रजी की नीति है। लोक-कल्याण की नीति है। सर्वोदय की नीति है।

समय-असमय पर शत्रुओं से भी उन्होंने काम लिया और मौका पाकर उनका वध भी करवाया। छोटे हों या बड़े हों, उच्च हों अथवा नीच हों, छूत हों अथवा अछूत हों परन्तु विचारों की

समानता आचारों की समानता धर्म की समानता आदि समानता के जितने भी अंग हैं उन्हें परिपुष्ट कर समाज को समान स्तर



जिस्म कठन गुसाईं को एक थानेदार ने जब बलपूर्वक और अकारण पकड़ लिया तब समर्थजी उसे तत्परता का पाठ पढ़ाते हैं।

पर लाने की कोशिश उन्होंने की। जो जिस अवस्था में जहाँ काम आया उससे सहायता प्राप्त की। जब किसी में द्रोह की भावना दिखाई दी तब उसे उचित दण्ड भी दिया। मतलब गुप्त रूप से सभी गुणों को परख कर उन्होंने धर्म के कारण स्वराज्य स्थापना

के लिए उनको काम में लगाया।

समर्थजी की यह नीति स्वयं इस बात को स्पष्ट करती है कि न्याय अन्याय के बंधनों में घिरे रहने से राज्य का निर्माण नहीं होता। उसके वास्ते शत्रुपक्ष को फुसलाने के लिए मीठी वाणी का प्रयोग, धन का लालच, दण्ड की धौंस अथवा छल-कपट से उसे अपने जाल में फँसाना आदि सारी क्रियाएँ धर्म-संगत मानी जाती हैं। मात्र धर्मनीति को बरतते हुए ये साधन निषिद्ध माने जाते हैं। यद्यपि समर्थजी का लक्ष्य धर्मसाधना था परन्तु स्वराज्य के बिना उसकी साधना असंभव होने से राज्य-साधना के क्षेत्र में समर्थजी को जुट जाना पड़ा और उसकी नीति के अनुसार चलकर धर्म की सुरक्षा स्थिर की।

समर्थजी ने अपने प्रत्यक्ष आचरण से इस बात को स्पष्ट किया है कि साधु हो या संन्यासी हो रागी हो या विरागी हो, ब्रह्मचारी हो या वानप्रस्थाश्रमी हो उसका यह कर्तव्य होगा कि वह समाज या राष्ट्र के दुःख का स्वयं अनुभव कर उसे दूर करने का प्रयास करे। वह सारे शास्त्रों का अभ्यास कर उसकी शिक्षा-दीक्षा से समाज एवं राष्ट्र को पारंगत बनाकर उसके संवर्धन में योग दे। व्यक्तिगत रूप से मोक्ष की साधना करना जीवन से द्रोह करना है। द्रोणाचार्य भीष्माचार्य आदि आचार्यों ने भी इसी नीति का अवलंबन किया था। उस जमाने में तो प्रत्येक ब्राह्मण वेदविद्या के साथ शस्त्र-विद्या और वाणिज्य विद्या को भी जानता था। समय आने पर वह तीनों मार्गों के परिपालन में योग देता था। जो नीति ब्राह्मणों पर लागू है वही क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों पर भी लागू होती है। खासकर पराधीन अवस्था में सारे के सारे गुलाम होते

हैं—चाहे ब्राह्मण हों या शूद्र हों। ऐसी दशा में चाहुल पर भी वे अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकते। इन सारी धार्मिक भूमि कार्यों के आधार पर ही समर्थजी ने अपना जीवन बिताया। अत अनीति या अनाचार का मार्ग पराधीन अवस्था में स्वराज्य पाने के लिए युक्त होता है इतना ही नहीं वह धम्य भी माना जाता है। इसका मतलब यह नहीं है कि अधर्म से बरत। धर्माधर्म का विचार केवल स्वराज्य साधना में नहीं करना चाहिए परन्तु अपने दैनिक जीवन में अपनों के साथ धर्माचरण अनिवार्य है।

समर्थजी के जीवन-योग का अभ्यास करने के बाद यह भी सिद्ध होता है कि स्वराज्य प्राप्ति के अनन्तर भी धर्म सत्ता का निर्माण जब तक नहीं होता—जब तक शत्रुओं के आक्रमण का भय बना रहता है अथवा आपसी संघर्ष के कारण धर्म सत्ता के निर्माण में रोड़े अटकते हैं तब तक राष्ट्रीय सामाजिक अथवा धार्मिक कार्यों में साधु-सतों, ब्रह्मचारियों अथवा वानप्रस्थियों को जुटा रहना चाहिए। परन्तु राज्य साधना की कपट-नीति का अवलम्बन ऐसे अवसर पर न होना चाहिए। समर्थजी स्वयं स्वराज्य-प्राप्ति के बाद भी धर्म सत्ता के निर्माण में जुटे रहे। यहाँ तक कि प्रत्यक्ष सभाजी राजा के द्वारा जब अनाचार हुआ तब उन्हें महान क्लेश हुए। उस अनाचार को दूर करने के लिए उन्होंने संभाजी को पत्र लिखा और वे स्वयं उनसे मिले भी। संभाजी राजा पर भी इस बरताव का काफी असर हुआ। अगर समर्थजी इस शाही खानदान के आपसी झगड़ों की ओर ध्यान न देते तो कदाचित अनाचार की श्रृंखला और बढ़ जाती और महाराष्ट्र प्रांत पुन: पराधीनता के पाश में बँध जाता।

प्रभु रामचन्द्रजी के जमाने में अथवा विशेष रूप से भगवान् श्रीकृष्ण के समय ठीक यही दशा थी। द्रोणाचार्य भीष्माचार्य अथवा कालिदासजी ने राज्य-साधना में इसी भूमिका के आधार पर योग दिया था।

राजपूताने की चारण जाति या महाराष्ट्र के शाहिर पथीय लोग इसी भूमिका को चरिताथ करते रहे थे।

यों तो देश के प्रत्येक नागरिक पर अपने वंश की नीति को बनाए रखने की जिम्मेदारी होती है परन्तु दैनिक हल्चलों का यथोचित परिचय पाकर उसके सुपरिणाम अथवा दुष्परिणाम पर विचार करने में सामान्य लोग असमर्थ होते हैं। वे अपने-आपके चरिताथ में मग्न रहते हैं। इस दशा में देश के जो बुद्धिवादी जीव हैं अथवा जिन पर गृहस्थी के विशेष बंधन नहीं हैं व राजनीति और धर्मनीति में अधिक सतर्क और कार्यक्षम रहें। समर्थ रामदासजी ने अपने शिष्यों-महन्तों को इसी प्रकार की शिक्षा दी थी। जो प्रत्येक देश के हितचिंतकों पर सदा के लिए लागू होती है।

मात्र इस बात का ध्यान सतत रखना चाहिए कि हम जो कुछ विचार अथवा आचार करते हैं वे अमरसत्ता के बंधन में पोषक हों। आचार, विचार और लक्ष्य की समानता जिस देश में होती है वह देश ही धर्मसत्ता पर आरूढ़ रहता है वह कदापि पराधीन नहीं होता। 'दासबोध' का विचार-मंथन इसी बात को लक्ष्य कर कहता है—

> एक देव एक आज्ञा
> एक विचार एक भाषा।

राज्यनीति की यह भूमिका समर्थजी ने विशेष रूप से शिवाजी

राजा के लिए निर्धारित की। प्रत्यक्ष में उनको समझाई। समय के अनुसार पत्र के द्वारा उसका विस्तार किया। अपने महंतों, शिष्यों और गुप्तचरों को नीति के ये पाठ पढ़ाए। यहाँ तक कि कीर्तन और प्रवचन के द्वारा इन वचनों के आधार पर सर्व साधारण जनता को शिक्षा-दीक्षा दी। जिससे समान विचार और आचारों का समन्वय हो सका। समर्थजी जो भी कुछ सोचते थे, जिन विषयों का मथन कर विचारों का निर्धारण होता था उन विचारों को लिख रखते थे। यही कारण है कि जीवनादर्शी 'दासबोध' का निर्माण हमारे लिए हो सका।

## धर्म-साधना

डा० राधाकृष्णन जैसे भारतीय सभ्यता का अनुसंधान करनेवाले सभी महानुभाव यह मानते हैं कि दैनंदिन जीवन में धर्म बरता जाता है। यह मंतव्य इस बात को स्पष्ट करता है कि धर्म का अर्थ कर्म है। अर्थात् वह कर्म धर्म कहलाता है जो व्यक्ति से लेकर सारी मानव-जाति का पोषण दे। भारतीय मनीषियों ने भारतीय जीवन का अभ्यास करके और मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की गवेषणा कर ऐसे कर्मों को धर्म का रूप दिया है जो जीवन को सुखी बना सकते हैं। अर्थात् यहाँ की जलवायु, स्वभाव-धर्म और प्रकृति के अनुरूप कर्म धर्म निर्धारित किए हैं। कर्म के बिना जीवन की धारणा असंभव होती है अर्थात् बिना कुछ किए-धरे मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। कर्मों को निर्धारित करने में पूर्व भारतीयों का जीवन विशिष्ट पद्धति से गढ़ा जाता है। गुरुजन उसे ज्ञान-विज्ञान संपन्न बनाते हैं—दार्शनिक उसे गति और विधि देते हैं और कलाकार उसमें जीवन विषयक रुचि भरते हैं। जब इन प्रयोगों से जीवन गढ़कर तैयार होता है तो उससे बरती जानेवाली क्रिया व्यक्ति, कुटुम्ब, जाति, समाज और देश को पोषण देती है। चाहे वह क्रिया बातचीत की हो, उठने-बैठने की हो, शादी-ब्याह की हो अथवा वाणिज्य तथा किसी व्यवसाय से संबंधित हो। शिक्षकों कलाकारों, और दार्शनिकों द्वारा गढ़ा हुआ भारतीय

जीवन सर्वश्रेष्ठ है और उसकी क्रियाएँ भी संसार में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं। इन सारी बातों का अध्ययन करने के बाद आस्तिक हो या नास्तिक इस बात को स्वीकार करेगा कि दैनिक जीवन में धर्म बरता जाता है। धर्म का अर्थ दकियानूसी प्रवृत्ति के अनुसार बरती जाने वाली कोई क्रिया नहीं है। धर्म हमेशा जीवन से सामंजस्य चाहता है और वह उन सभी विचारों एवं आचारों को मानता है जो उत्कर्ष की साधना में योग देते हैं।

भारतीय जीवन क्रिया अर्थात् धर्म की मुख्य रूप से दो प्रवृत्तियाँ मानता है। एक प्रवृत्ति जो शरीर को पूर्णरूप से सुखी बनाने का प्रयास करती है जिसे अभ्युदय कहा जाता है और जो भौतिकवाद के नाम से भी परिचित है। दूसरी है निवृत्ति, जो आत्मिक सुख के चिंतन में जीवन को संवेदनशील बनाकर सर्वभूत हित रत की भावना जगाती है। संसार का भौतिक जीवन निवृत्ति के यथार्थ रूप को नहीं जानता और इसीलिए अपने को पुरोगामी कहलाने वाले भारतीय जीवन के इस रूप को धर्म कहकर उसकी खिल्ली उड़ाते हैं। परन्तु संसार मानता है कि विश्व-कल्याण की साधना भारतीय जीवन ने की है। खासकर संत महतों ने इस साधना में विशेष योग दिया है। इसी साधना के कारण भारतवर्ष यद्यपि दु:खी पराधीन और दरिद्र रहा फिर भी आत्मिक सुख का आनंद यह लूटता रहा। केवल आत्मिक बल पर। भारतवर्ष के संतों-महंतों ने प्रत्येक युग में आत्मा की गवेषणा की है और आत्मिक संतोष की साधनाओं को उपलब्ध रखा है। गौतम बुद्ध विवेकानन्द रवीन्द्र बाबू और महात्मा गांधी जैसे लब्ध संतों ने योग देकर आत्मिक संतोष की साधनाओं को

बार-बार उपलब्धकर निवृत्ति की साधना की। यही कारण है कि दुनिया के बड़े-बड़े दार्शनिक भारतीय जीवन-योग को जानने का प्रयास कर आत्मिक सुख को आज तक ढूंढ़ते रहे हैं। और वे यह भी मानते हैं कि भारतीय सभ्यता श्रेष्ठ है यानी भारतीय जीवन-योग की साधना अपूर्व है। अर्थात् दुनिया ने यह स्वीकार किया है कि निवृत्ति—भारतीय जीवन-योग अथवा भारतीय दर्शन शास्त्र सर्वश्रेष्ठ है।

जीवन-योग की इस भूमिका का चिंतन करने के बाद हमारे सामने यह सवाल उठता है कि फिर भारतीय जीवन दुःखी क्यों? इस प्रश्न का उत्तर समर्थजी ने अपने आदर्शों से और प्रत्यक्ष जीवन से दिया है। समर्थजी के वचनों द्वारा इस विषय का स्पष्टीकरण करने से पहले 'दासबोध' के विचारों का मंथन भूमिका के रूप में यहाँ देना उचित होगा जिससे विषय के प्रतिपादन में सुविधा आ सके।

जब तक निवृत्ति और प्रवृत्ति हिलमिलकर भारतीय जीवन में योग देती रहीं तब तक वह जीवन के उच्च शिखर पर आरूढ़ था—पूर्णतः संपन्न था। उसने महाभारत का निर्माण कर लगभग आधी दुनिया पर अपना अधिकार प्रस्थापित किया था। केवल अधिकार पाने के लिए नहीं अपितु जीवन-योग का वास्तविक रूप दिखाकर मानव-जीवन सुदृढ़ और बलशाली बने इसलिए। यानी भारतीय जीवन जो आक्रामक रहा है वह ज्ञान के क्षेत्र में। भौतिक सामर्थ्य को पाकर अपनी अधिकार लिप्सा तृप्त करने के लिए उसने कभी प्रयास नहीं किया। भारत की यह परम्परा तब टूट गई जब भारतीय जीवन में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति के योग में

अन्तर पड़ गया। आगे चलकर जीवन से प्रवृत्ति का साथ छूटने लगा और जीवन ने केवल निवृत्ति का आश्रय लिया जो कोरा आदर्श बन गया। भारतवर्ष में जितने भी साधु-संतों ने अवतार धारण किए हैं सब के सब निवृत्ति के उपार्जन का आग्रह कर प्रवृत्ति का घोर विरोध करते रहे। यद्यपि भारतीय जीवन योग निवृत्ति को अपना लक्ष्य मान प्रवृत्ति की साधना करता रहा यानी भारतीय जीवन ने अभ्युदय को उतना ही महत्त्व दिया जितना निःश्रेयस को दिया था परन्तु जब प्रवृत्ति या निःश्रेयस का साथ जीवन से छूटा तब भारतीय जीवन दुःख दरिद्रता, पराधीनता में डूब गया तथा वर्गगत कलह से छिन्न भिन्न हो गया। जब अभ्युदय और निःश्रेयस में मेल था तब धन-दौलत, कला ज्ञान और अधिकार के पद पर भारतवर्ष स्थित था। जब केवल निःश्रेयस से उसने गठबंधन किया तब उत्कर्ष के सभी अंगों से मुँह मोड़कर वह आत्मसाधना में लगा रहा। भारतवर्ष की इस अवस्था को देखकर समर्थजी ने प्रवृत्ति यानी अभ्युदय की साधना को विशेष महत्त्व देकर इस साधना में सफल बनने के लिए सर्वप्रिय सर्वश्रेय गृहस्थी धर्म पर अपनी कार्य शक्ति केन्द्रीभूत की—जिस गृहस्थी धर्म के पालन से अन्य धर्मों का पालन सुलभ होता है। यद्यपि समर्थजी के जीवन का लक्ष्य भी निवृत्ति या निःश्रेयस था परन्तु उन्होंने देखा कि निःश्रेयस के लिए शक्ति का स्रोत प्रवृत्ति से ही प्राप्त हो सकता है और यदि वह बन्द हुआ तो जीवन विषयक किसी भी धर्म की साधना हो नहीं सकती इसलिए धर्म-साधना के लिए उन्होंने प्रवृत्ति का आश्रय उचित माना।

प्रवृत्ति मनुष्य का स्वभाव है और उस स्वभाव को अनुकूल

दबाकर जीवन को सुखी बनाना मनुष्य का कर्तव्य है। जीवन की यह सामान्य भूमिका प्रवृत्ति और निवृत्ति के यथार्थ रूप को स्पष्ट करती है। इसी भूमिका के आधार पर समर्थजी ने धर्मसाधना की। प्रवृत्ति अर्थात् अभ्युदय को उन्होंने अधिक महत्त्व दिया।

हम आज भी इस बात का अनुभव करते हैं कि हमारा आचरण 'मन: पूतम् समाचरेत' बन गया है। हमारे सामने न कोई आदर्श है और न हम अपने आदर्श के लिए प्राणों की बाजी लगाने के लिए तैयार हैं और न किसी की बात को हम मानते हैं। हमारी इस अवस्था का मुख्य कारण यह है कि हम केवल और कोरे निवृत्ति मार्ग का ही उपासन करते हैं। वस्तुत निवृत्ति मार्ग से हम कोसों दूर हैं।

यह अवस्था समर्थजी के जमाने में भी थी। इसीलिए तो कर्म अर्थात् धर्म के प्रत्येक अंग का यथोचित ज्ञान प्राप्त कर उसे अमल में लाने की यथोचित विधि समर्थजी ने बतलाई। 'दास बोध' के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि समर्थजी ने धर्म-साधना के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग को ही अपनाया है। परन्तु विषय की सुगमता को स्पष्ट करने के हेतु उन्होंने गृहस्थ जीवन और सन्यासी जीवन इस प्रकार जीवन के दो भेद मान मासान भाषा में इनके उत्कर्ष को स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि चार आश्रमों और चार पुरुषार्थों का केन्द्र-स्थान 'गृहस्थ जीवन' है। अगर गृहस्थ जीवन की गुत्थियाँ सुलझ गई तो निवृत्त या विवेक से जो सन्यासी बनेंगे उनके लिए मोक्ष का द्वार खुलेगा। यानी संन्यासियों को भी उन्होंने गृहस्थी धर्म सुलझाने का आदेश दिया है। जो गृहस्थी धर्म का उत्तम पालन करेगा

यह ग्रमामास मोक्ष का अधिकारी बनेगा यह भी उन्होंने स्पष्ट किया है।[1]

पहले गृहस्थी-धर्म को निभाओ
फिर परमार्थ की ओर ध्यान दो।
यहाँ आलस्य काम न देगा
विवेकी लोगों को ॥

ये वचन स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि गृहस्थी धर्म में किसी प्रकार आनाकानी न होनी चाहिए। यही नहीं इस धर्म का डट कर पालन करना चाहिए। चाहे कितनी ही मुसीबत क्यों न आ जाएँ धीरज और चातुरी से जो इस धर्म का पालन कर सकता है वही मोक्ष का अधिकारी हो सकता है।

इस कथन का अर्थ समर्थजी स्पष्ट रूप से यह बतलाते हैं कि गृहस्थी धर्म का पालन भी मोक्ष के हेतु होना चाहिए। अर्थात् मूल धर्म एक ही है और वह है निवृत्ति या मोक्ष का। परन्तु उन दिनों और आज भी गृहस्थ-जीवन में किसी प्रकार की कठिनाइयाँ आने पर मनुष्य तुरंत विरागी बन निवृत्ति का प्रदर्शन करता है। लेकिन यह सच्ची निवृत्ति नहीं है। इसीलिए समर्थजी ने गृहस्थी धर्म की ओर लोगों का ध्यान अधिक आकर्षित एवं दृढ़ किया। जो

१ धर्म का अर्थ कर्म होने से कर्मसाधना प्रकरण में भी इस विषय को स्पष्ट किया गया है। फिर भी उस प्रकरण में गृहस्थ-जीवन को ही अधिक स्पष्ट करने से इस प्रकरण में धर्म के नाम परिचित विषय के बारे में अधिक विस्तार किया है। कुछ द्विरुक्ति अवश्य हुई है। परन्तु इससे समर्थजी के आदर्शों की विशेष जानकारी ही प्राप्त होगी। सो क्षमा याचना की कोई आवश्यकता नहीं है।

नाममात्र फकीर या संन्यासी बनता था उसका समयजी ने घोर विरोध किया और उन्हें श्रम-कार्य में भी जुटाया।

स्वयं सम्यस्त रहकर समयजी ने लगभग ५४ वर्षों तक अनेक पंथ पक्ष और श्रेणी के लोगों को गृहस्थी धर्म के पाठ पढ़ाए जिससे जीवन की आस्था निर्मित हुई और उसकी उपयोगिता को जान महाराष्ट्र, महाराष्ट्र बना।

विदेही अवस्था के अलौकिक आनन्द को वे हमेशा गृहस्थी में पाने को कहते रहे। हर किसी क्षेत्र में दायित्वता की भूमिका को ही उन्होंने निभाया है। प्रथम प्रत्यक्ष में देखने के बाद ही हर किसी घटना या आदर्श को वे दिखाते गए।

जो ब्रह्म रूप का त्याग कर, अनंत में लय चाहता हो
गृहस्थी को लांघकर वह, साक्षात्कार करे अनन्त का॥

अर्थात् शरीर धर्म का पालन केवल मोक्ष प्राप्ति के लिए है और वह पर्याप्त मात्रा में करना चाहिए। केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' कहने से काम नहीं बनता। क्योंकि ब्रह्म को न किसी ने देखा है और न दिखाया है। गीता में कहा है—

अविनाशी तु तद् विद्धियेन सर्व मिद ततम्

ठीक इसी भूमिका को लक्ष्य कर समयजी कहते हैं—

मुख्य एक परमेश्वर, दूसरी प्रकृति जगदाकार,
तीसरे हम कैसे बने कोर बीच हम दोनों के।

इस वास्तविक दशा में हम यह क्योंकर कह सकते हैं 'अहं ब्रह्मास्मि'? हां, यह सत्य है कि जगदाकार यानी माया के हम अंश हैं और उसमें विलीन हो जाते हैं। यत क्षर और अक्षर का प्रयोग भी इसी रूप का स्पष्ट करता है। प्रभु रामचन्द्रजी को या भगवान्

श्रीकृष्ण को अवतारी पुरुष समझना भी व्यर्थ है। क्योंकि मृत्यु के पाश से वे भी जकड़े गए थे। सो 'अहं ब्रह्मास्मि' की भूमिका निराधार है। हमें शरीर धर्म का शास्त्रीय पालन करना चाहिए। सुख-दुःख के भय से विमुक्त बन जगदाकार में एक रूप होकर रहना चाहिए। यही मोक्ष है।

समर्थजी यह भी बतलाते हैं कि यह अवस्था हम न वेदों से पा सकते हैं न शास्त्र ज्ञान से। इस अवस्था को गुरु के द्वारा हम अवश्य जान सकते हैं। यदि वे योग्य हों अथवा उनके संकेत को हम भलीभाँति समझ लें।

मतलब यह कि धर्मसाधना के लिए समर्थजी ने कर्मसाधना को विशेष महत्त्व दिया है। प्राप्त कर्म—चाहे वह मुखिगत हो अथवा वंशगत हो—परन्तु उस कर्म को ज्ञान, भक्ति और उपासना के रूप में बरतने पर मनुष्य अपने जीवन को सुखी बनाकर मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। महात्मा तिलकजी ने कर्मसाधना को लक्ष्य कर ही 'गीता रहस्य' में विस्तारपूर्वक और साधारण का विवेचन किया है उसी का प्राकृत रूप समर्थजी ने दर्शाया है। वह कर्मसाधना और धर्मसाधना के अस्तित्व और मेल के सुन्दर संगम को दिखाता है। वे कहते हैं—

> रामदासी बहु ज्ञान, सारासार विचार कर,
> धर्म स्थापना के हित, करते कर्तव्य उपासना।
> प्रथम धारो कर्म भाव, कर्म मार्ग से उपासना
> उपासना से पाए ज्ञान, ज्ञान से पाए मोक्ष भी॥

ज्ञान-प्राप्ति के बाद अथवा विदेह अवस्था में भी धर्म साधना के लिए कर्म की साधना अनिवार्य है। शरीर धारणा भी

कर्मसाधना के बिना असंभव है। जब हमने शरीर को धारण किया है तो उसे सुखी भी बनाना चाहिए और जब हम उसे सुखी बनाना चाहते हैं तब धर्मसाधना रूप कर्मसाधना में अनन्त तक लगे रहना ही हमारा परम कर्तव्य है।

शमो दमस्तप शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञान विज्ञान मास्तिक्य ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

धर्मसाधना के उपलक्ष में समभजी ने अनेक वचन लिखे हैं। मुख्य वचन इस प्रकार हैं—

देह में आत्मा का निवास
पूजै पर पावै संतोष
देह पीड़ा से क्षोभ पावे
देह के बिना पूजा कैसे ?
न्याय नीति को परख कर
अन्याय से बचते चले,
लोक संग्रह कर न्याय से
धर्मी सात्विक बहु त्यागी ॥
जनसाधारण में लोप हो
पद्म भगवान का कहे,
वैराग्य, ज्ञान से बढ़े
सर्वहित समभाव से ॥
उपासना से कर्म आदरे
वैराग्य भी उपासना से,
उपासना से ज्ञान पावे
ज्ञान दान उपासना से ॥
लोक त्यागी बनने पर
पावे मुक्ति तुरंत ही,

बंधमुक्त लोगों के संग
बनता है नर पावन यहीं ॥
निस्पृह बन कम आदरे
पर लोगों से वंचित रहे,
उपासना से हमारे सब
धर्म कर्म विचार की ॥
पद मर्यादा या कीर्ति से
अपने को मुक्त रख
लोगों को स्थान दे धर्मों
योग्य ज्ञान पथ कार्य में ॥

समर्थजी के इन वचनों से प्रवृत्ति और निवृत्ति की साधना का यथोचित परिचय होता है। निवृत्त रहने वाले लोग ज्ञानी होते हैं इसलिए प्रवृत्ति को सँजोए रखने का भार अगर उनको सौंपा गया तो स्वभाव-सिद्ध प्रवृत्ति शुद्ध बन सकती है। प्रवृत्ति के उपासकों का यथोचित गौरव होता है। उनके अपने पदों के अनुसार उनको सम्मानित किया जा सकता है जिससे कार्य-साधना में सुगमता प्राप्त होती है। और फिर ज्ञान मार्ग से वे भी निवृत्त बन जाते हैं। जनता के साथ मोक्ष पाने में ही निवृत्ति की साधना सफल बन सकती है। समर्थजी के इन धार्मिक आदर्शों का मनन करने के बाद महात्मा गांधीजी के कार्य का स्मरण हमें बरबस आकर्षित करता है। गांधीजी भी विदेह रूप में मोक्ष पाने के हेतु जनता में रहकर धर्म साधना में लगे रहे। एक बात हमारे हृदय में अवश्य खटकती है। वह यह है कि जो महत्त्व समर्थजी ने धर्म साधना के लिए प्रवृत्ति को दिया था वह महात्मा गांधीजी ने नहीं दिया। स्वभाव-सिद्ध धर्म की ओर देखने की दृष्टि दोनों की भिन्न

रही। फिर भी उपासना का मार्ग समान रहा। दोनों जनता में, जनता के साथ रहकर धर्मसाधना करते रहे। दोनों का लक्ष्य धर्म-



सर्वामिकता अराष्ट्रीयता के विकराल राक्षस का रूप समर्थजी जनता को दिखा रहे हैं।

सत्ता का निर्माण था। परन्तु समर्थजी शुद्ध रूप में हिन्दू धर्म सत्ता के प्रवर्तक थे और महात्मा गांधी मानव धर्मसत्ता के अभि लाषी थे। यद्यपि हिन्दू धर्मसत्ता से मानवता का भरण-पोषण होता है परन्तु महात्मा गांधीजी ने अपने सामने विशाल दृष्टिकोण रखा था। यह भी सत्य है कि समर्थजी के स्वाभाविक आदर्शों को

जिस प्रकार समाज ने आत्मसात किया उस प्रकार महात्मा गांधी जी के विशाल आदर्शों का पालन समाज के द्वारा न हो सका। यद्यपि उसका प्रवचन आज भी होता है परन्तु स्वयं महात्मा गांधीजी ने अनेक बार यह स्वीकार किया है कि सत्य की उपासना बहुत कम सत्याग्रहियों के द्वारा होती है।

धर्मसाधना के उक्त वचन और उन वचनों के अनुसार धर्म साधना की भूमिका को स्पष्ट करने के बाद समर्थजी की कुछ कार्य-साधक घटनाओं का उल्लेख यहाँ इसलिए किया जा रहा है कि उनसे धर्मसाधना के रूप की यथोचित कल्पना पाठक कर सकें।

## कुछ घटनाएँ

भारत भ्रमण के अवसर पर समर्थजी से अनेक सम्प्रदायों के महानुभाव मिलते रहे। या यों कहिए कि स्वयं समर्थजी ज्ञान संपन्न पंडितों की खोज में रहते थे। जब कभी किसी पंडित से वे मिलते तब उन्हें महान आनन्द होता था। बड़े प्रेम और आदर के साथ वे उनसे शास्त्रार्थ करते थे। शास्त्रार्थ से ही ज्ञान का वर्धन होता है यह उनकी पक्की भावना थी परन्तु उनका शास्त्रार्थ ज्ञानवर्धन की सीमा तक ही मर्यादित रहता था। शास्त्रार्थ में अनेकों को पराजित कर उन्होंने विजय पाई थी। परन्तु पराजित पंडित या उसके सम्प्रदाय के बारे में उन्होंने कभी अनादर की भावना का प्रदर्शन नहीं किया। यही नहीं उसके सम्प्रदाय और स्वयं उससे भी सामंजस्य का बरताव कर उसको प्रोत्साहन दिया। प्रत्येक शास्त्रार्थ के बाद वे इस बात को स्पष्ट करते रहे कि धर्मसत्ता के कारण स्वराज्य के निर्माण की आवश्यकता है और

स्वराज्य के लिए कार्य-साधना समबुद्धि से करनी चाहिए।

उत्तर भारत में घूमते समय एक बार गुरु नानक सम्प्रदाय के एक महन्त से उनका साक्षात्कार हुआ। रिवाज के अनुसार समर्थजी ने उससे शास्त्रार्थ किया। जब उस महन्त ने समर्थजी के प्रमाणवद्ध धर्मयोग को जाना तब वह अनुग्रह देने के लिए समर्थजी से प्रार्थना करने लगा। समर्थजी ने उसे आग्रह नहीं किया। इतना ही नहीं उससे कहा एक बार किसी गुरु का अनुग्रह लेने पर उसके प्रति अपने हृदय में सदा श्रद्धा ही बनी रहनी चाहिए। किसी भी अवस्था में अपने गुरु के प्रति अनादर की भावना न आनी चाहिए। अन्य पंथ के गुरु से अभिभूत हो उठने पर भी केवल ज्ञानोपासक की भावना से अपनी ज्ञान पिपासा तृप्त करनी चाहिए। यह उपदेश सुनाकर समर्थजी ने उसे जागृत धर्म के महत्त्व को समझाकर वास्तविक अर्थ में धर्माभिमुखी बनाया। उसे प्रसन्न करने के हेतु समर्थजी ने स्मृति रूप में अपने गेरुए रंग के वस्त्र भी दिए। अपने संप्रदाय का न गौरव गाया और न उसे अनुचर बनाने का प्रयास किया।

समर्थजी हिन्दू धर्म को एक विशाल वृक्ष और हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों को उसकी शाखाएँ मानते थे। प्रत्येक शाखा हरी-भरी रहकर वृक्ष को पोषण दे—वृक्ष को छायादार बनाए—यही धर्म और सम्प्रदाय-विषयक उनकी भूमिका थी। उन्हें विश्वास था कि जिस प्रकार वृक्ष की शाखा, वृक्ष के लिए कदापि हानिकारक सिद्ध नहीं होती उसी प्रकार हिन्दू धर्म का कोई भी संप्रदाय हिन्दू धर्म को हानि नहीं पहुँचा सकता। यदि शाखा की सहायता से कोई वधिक अन्य शाखाओं को काटता हो तो समर्थजी उसके

घोर विरोधी थे।

समर्थजी के जमाने में संत तुकाराम नामी एक भक्तश्रेष्ठ निवृत्ति-मार्गीय थे। वे वारकरी संप्रदाय के थे। फिर भी समर्थजी के हृदय में उनके प्रति महान आदर था। वे भी समर्थजी का आदर करते थे। दोनों अनेक बार एक दूसरे से मिले और धर्म तथा देश का उद्धार करने के हेतु विचारों का आदान प्रदान किया। जब शिवाजी राजा संत तुकाराम से अनुग्रह पाने के लिए गए तब संत तुकारामजी ने उनसे कहा कि यदि आप समर्थजी से अनुग्रह लेंगे तो वे आपको यथोचित मार्गदर्शन कर सकेंगे। आप जैसे राज नीतिज्ञों के लिए समर्थजी से अनुग्रह प्राप्त करना उचित होगा। क्योंकि समर्थजी अधिकारी राजनीतिज्ञ हैं और निवृत्त भी हैं। मैं केवल निवृत्तिमार्गी संत हूं। यह सलाह स्पष्ट बताती है कि समर्थ संप्रदाय उन सभी संप्रदायों का हितैषी है जो हिन्दू धर्म हित रत हैं।

संत तुकाराम के मराठा होने पर भी श्री समर्थजी ने उनके साथ भोजन पाया। फिर भी वर्ण-व्यवस्था के वे पक्षपाती थे। अर्थात् समाज की धारणा ज्यों की त्यों बनी रहे यही उनकी भूमिका थी। इसके अतिरिक्त जो मुक्त हुए हैं वे नियम मुक्त हैं यह उनका मत था। राजनीति में भी वे कट्टरता को नहीं मानते थे।

एक बार महाराष्ट्र के चार संत शिरोमणि धर्म नीति पर चर्चा कर रहे थे जिनमें समर्थजी, जयराम स्वामी रंगनाथ स्वामी और आनन्दमूर्ति थे। चारों भक्तिमार्गी और आत्मानुभवी थे। बातचीत के सिलसिले में समर्थजी ने उनसे कहा 'भाइयो इस

समय कविता की एक पंक्ति मुझे याद आयी है।'

सीमों ने कहा, 'वाह खूब ! सुनाइये तो ज़रा।'

समर्थजी बोले

मुक्त नहीं जानता तनुभाव

जयराम स्वामी कहने लगे, मैं दूसरी सुनाता हूँ

होकर देही फिर भी विदेही,

रंगनाथ स्वामी ने तीसरी पंक्ति सुनाई

प्रारब्ध कर्म से भोगे सुखदशा

आनन्दमूर्तिजी ने कहा, चौथी पंक्ति बनाकर मैं कविता पूर्ण करता हूँ'

ज्यों वायु के संग पादप का झूमना ॥

चार संत शिरोमणियों की यह सभा स्पष्ट रूप से यह बतलाती है कि उन दिनों जो प्रवृत्तियां काम कर रही थीं उन सारी प्रवृत्तियों से समर्थजी ने मेल स्थापित किया था। बाजी गोसावी जैसे मराठा जाति के संत को भी शिराळ का मठपति बनाया था। शूद्रों एवं चोरों से संपर्क स्थापित कर वे हीनता का अनुभव नहीं करते थे अपितु अपने संपर्क से उनके विचारों में परिवर्तन करते थे। इसी कारण ब्राह्मणों के द्वारा उन पर अनेक लांछन लगाए गए। परन्तु अब उन्होंने समर्थजी के प्रताप को धर्मनीति को व राजकाज को माना तब वे शरण में आए। समर्थ संप्रदाय कितना सर्वसंग्रही था इस बात को स्पष्ट करने के लिए निम्न दो उदाहरण सपोषक हैं।

एक बार अपने शिष्यों के साथ समर्थजी कहीं धर्म प्रचारार्थ जा रहे थे। बहुत देर निरंतर चलने से शिष्यों ने भूख का अनुभव किया। सहसा रास्ते के दोनों ओर ईख के खेत दिखाई दिए। ईख

के खेतों को देखकर शिष्यों ने समर्थजी से ईख के बारे में पूछा। समर्थजी ने हर खेत से दो-दो ईख उखाड़कर लाने की अनुज्ञा दी। ईख उखाड़ते समय खेत के मालिक ने जब देखा तब वह आग बबूला होकर समर्थजी के पास आया और उन्हें अगुआ समझ ईख के डंडे से ही पीटने लगा। जब सारे शिष्य बदला लेने के लिए उतारू हुए तब समर्थजी ने उन्हें रोका। इतना ही नहीं वह



समर्थजी ईख के डंडे से पिटने पर भी

भी समझाया कि जब अनुज्ञा के बिना ईख चूसी है तब प्राप्त दण्ड को भुगतना ही धर्म है। इस प्रकार समर्थजी की प्रवृत्ति, त्याग और उपदेश देख-सुनकर वह किसान समर्थजी का शिष्य बन गया।

समर्थजी ने भी उसे बड़े प्रेम के साथ अनुग्रह दिया।

एक बार कुछ चोर चोरी करने के बहाने सज्जनगढ़ के मठ में रात के समय घुस आए और डांट डपट कर जो भी पास हो वह माँगने लगे। चोरों की यह उद्दण्डता देखकर शिष्यगण चिढ़ गए और इंट का जवाब पत्थर से देने के वास्ते तयार हुए। यद्यपि वे शक्तिशाली थे, चोरों को भगा सकते थे परन्तु समर्थजी ने उन्हें रोककर कहा, 'भाई इस दुनिया में आते समय हम क्या लाए हैं? अर्थात् भिक्षा के रूप जो कुछ मिलता है वह धर्म काम में लगाया जाता है। हमारा अपना तो कुछ है नहीं। अगर हम से धर्म-काम हुआ चाहता है तो फिर चिंता क्यों करें और किसी से धामुल्य मोल क्यों लें।' यह कहकर समर्थजी ने चोरों का हार्दिक स्वागत किया। उन्हें खिलाया पिलाया। समर्थ का करताब और भाषण सुन वे चार समर्थजी के शिष्य बने और उनसे अनुग्रह पाकर समर्थ संप्रदाय का प्रचार करते रहे।

धर्मनीति के बारे में समर्थ संप्रदाय अद्वैतवादी होने का दावा नहीं करता। परन्तु आत्मानुभूत बनकर स्वयं को सेवक के रूप में समझने, प्रभु रामचन्द्रजी के स्वामी राज्य को मानने और राम राज्य की स्थापना करने पर ही मोक्ष की साधना होती है यह समर्थ धर्म-साधक का कहना है। अर्थात् धर्माध्ययन, मनन, चिंतन, सत्य की उपासना इन सारे मोक्षदायी अनुसंधानों को धर्म-साधक मानता है। विशेषकर जिसका जो भी जीवन हो उसे अधिक से अधिक सुखकर बनाने में योग देने का भार धर्म-साधकों पर होता है। यह गुरुभार सँभालना बड़ा कठिन है। क्योंकि समाज के अनेक स्तरों में अनेक प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। उन सब स्तरों और

प्रवृत्तियों को जानकर उनकी समृद्धि का चिंतन धर्म-साधकों को करना पड़ता है। जिसके बारे में गहन आदर्शों का जिक्र समर्थजी ने अपने 'दासबोध' ग्रंथ में किया है।

मतलब यह कि धर्म का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। उसे आत्मसात करने पर जीवन के विभिन्न अंगों का परिज्ञान धर्म-साधक को अनायास होता है और वह अपने साथ अपने धर्म समाज अथवा देश को संपन्न बना सकता है। गतानुगतिक धर्म-साधना का समर्थजी ने घोर विरोध कर धर्म की जो मूल नीति सामंजस्य की है उसे अपनाया—जो प्रकृतिस्थ है और जो समान आचार विचारों के मेल को बढ़ाकर सुख-संतोष को बढ़ाती है। चोर और खेतिहर के साथ समर्थजी ने जो बरताव किया वह धर्म के ऊँचे स्तर का परिचय देता है, परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अन्यायी को वे भरपूर दण्ड दिए बिना नहीं रहते थे। क्षात्रवृत्ति भी उनमें पूरी थी।

# समर्थ संप्रदाय

जिस प्रकार भारतवर्ष में कबीर संप्रदाय, नाथ संप्रदाय, वारकरी संप्रदाय सिक्ख संप्रदाय जैन सम्प्रदाय बुद्ध सम्प्रदाय आदि हिन्दू धर्म के अनेकों सम्प्रदाय हैं उसी प्रकार महाराष्ट्र में समर्थ सम्प्रदाय है। समर्थ संप्रदाय का यह नामाभिधान ही इस संप्रदाय की विशेषता स्पष्ट करता है। जो संप्रदाय शक्तिशाली है अथवा समर्थजी ने जिस संप्रदाय को स्थापित किया है वह है समर्थ संप्रदाय। किसी भी अन्वय और अर्थ की दृष्टि से इस संप्रदाय की विशेषता को यदि स्पष्ट करना हो तो यह इस प्रकार कर सकते हैं—

जो संप्रदाय धर्म समाज और देश की विभिन्न जातियों में सामंजस्य निर्माण करता है और आपसी मतभेदों का शास्त्रीय दृष्टि से दूर कर समान विचार समान आचार निर्माण कर धर्म तथा देश के संवर्धन में अपना सर्वस्व का समर्पित करता है वह है समर्थ सम्प्रदाय।

जो संप्रदाय वर्ण, वर्ग और अन्य संप्रदायों के आपसी भेदभाव को दूर कर धर्म और देश की सेवा में अपने आपको लगा देता है वह है समर्थ सम्प्रदाय।

जो संप्रदाय समाजशास्त्र अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र नीतिशास्त्र, राज्यशास्त्र में प्राविण्य संपादन करके अपने आचरण से देश और

धम का मम्युदय करता है वह है समर्थ सम्प्रदाय।

जो सम्प्रदाय अन्याय का विरोधी पीड़ितों का साथी, ईंट का जवाब पत्थर से देकर अपने धम और देश की रक्षा करता है वह है समथ सम्प्रदाय।

मतलब, प्रभु र मचन्द्रजी का आदर्श अपने सामने रखकर हनुमान क समान धर्म और देश का जो सम्प्रदाय भक्ति-भाव से उद्धार करता है वह सम्प्रदाय है समथ सम्प्रदाय।

इस सम्प्रदाय की स्थापना स्वयं समथजी न की है। हिन्दुस्थान की सभी अवस्थाओं का चोवीस वर्षों तक अवलोकन करने के बाद वह किस मार्ग से सम्पन्न बन सकता है इस बात का निणय कर चुकने पर लगभग तीस वष तक अपने आदर्शों के अनुसार चलने के बाद ही समथजो न इस सम्प्रदाय की स्थापना की है। अपने आचरण के साथ साथ दासबोध द्वारा समर्थ सम्प्रदाय के विधान को भी उन्होंने निर्धारित किया है।

इस सम्प्रदाय को चलाने के लिए उन्होंने ११०० मठ, और ११ हनुमानजी के मन्दिर स्थापित किए और हजारों की संख्या में शिष्य तथा सैकड़ों महंतों को जुटाया। यद्यपि इनके चरितार्थ के लिए शिवाजी के द्वारा कुछ गाँव जमीनें और वर्षासन इनाम में नियत हुए परन्तु मुख्य रूप से भिक्षा का ही अवलम्बन यह सम्प्रदाय करता है। अपने सम्प्रदाय के बारे में स्वयं समथजी कहते हैं

लोगों का संग्रह कर—आदर्शों के भाव बता,
तरुणों के आश्रय से साधे हेतु साधना ॥
भगवत भजन को मुख्य स्थान

राजनीति को माने दूसरा
सावधान रहे तीसरे में
सर्वभूत हित-रत हो ॥
चौथे का आश्रय ले आपत्तों को दूर करे
अपराधों को क्षमा करें, छोटा हो या बड़ा ॥
आचरण के आकर्षण से, भक्तों को उपदेश सुना
गृहस्थी में सहायता दे व्यक्ति का अनुमान लगा ॥
समाजों को बनाए रखे, समय को देख काम ले
चाहे किसी के साथ हो पर विवादों से बचता चले ॥
दुख दूसरों का जान ले—सुन सके तो दूर करे
सुख दुख से बीच मान समुदाय में अपने को ॥
राजनीति में योग है गुप्त रूप से हर समय
दिल से न रहे किसी के, दुःख को परिताप को ॥
असाधारण करे राजनीति जिसकी न तुलना हो सके ।
बने असाधारण तब कहीं मन के शुद्ध रखने पर ॥

इस प्रकार राजनीति धर्मनीति और समाजनीति को स्पष्ट करने के लिए समर्थजी ने अनेक वचन लिखकर मानो सम्प्रदाय की नियमावली ही बना दी है । इस सम्प्रदाय का सदस्य वही बन सकता था जो साधारण रूप मे उपरोक्त भूमिका को अपने आचरण से स्वीकृत करे । उसके लिए न कोई चंदा था न पद था न कार्यकारी का बंधन था । अपने आपको इस काम मे जुटाने वाला शिष्यों, महंतों एव सम्प्रदाय के धर्म राजनीति और समाजनीति के पंडितों की सलाह से चलने वाला और अपने साथ दूसरे के जीवन को साधने का प्रयास करने वाला ही इस सम्प्रदाय का सदस्य माना जाता था । कार्य के गुरुभार को निभाने के लिए रामनवमी के अवसर पर एकत्र होकर गुप्त रूप से योजनाएँ

बनाई जाती थी। हर कोई हर किसी को सलाह देता था और सामाजिक तथा राष्ट्रीय शांति और एकता को बनाए रखने के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद का अवलम्बन करके गुप्त रूप से कार्य साधता था। मुख्य रूप से मठपति महंत के जिम्मे सम्प्रदाय के संचालन की जिम्मेदारी मानी जाती थी। मठपति महंत वही बनता था जो अधिकारी पुरुष हो और ब्रह्मचारी हो। उसे शिष्य बनाने का, अनुग्रह मानी आज्ञा के रूप में सलाह देने का अधिकार था। समर्थ सम्प्रदाय जिस शिक्षा-दीक्षा से युक्त था और जो शिक्षा दीक्षा देता था उसका मुख्य सूत्र इस प्रकार था

नरदेह स्वाधीन है, वह पराधीन क्योंकर बने ?
मिलकर झुके पर सेवा से, कीर्ति रूप अमरत्व में ॥
दूसरों के हित में लगे नित्य निरन्तर शरीर जो
अभावों को भेदकर सार्थक बनता है तब वही ॥
दूसरों के हृदय को जान धरते स्वयं स्वबोध से
रूप अनेक परखने के अवसर करे सर्वदा ॥
पृथ्वी की भीख उठाए, महान यत्नों का विस्तार बड़ा
कार्य उभारे निरन्तर जो प्रयत्नवादी कहलाता है ॥
जो उपकार करता है, चाह उसकी होती है
इस संसार में अभाव को, वह क्योंकर पाएगा ?
बरताव करे पितृवत पाए लोगों को पुत्रवत
महापुरुष बने तब, लोक-चिंता निवारण से ॥
जो शरीर को धारण किए, माने उसे भगवत स्वरूप
सेवा से अथवा से पावे उसके शुभ भगवत रूप ॥

ये वचन मानवता के आदर्श को उभारते हुए मानवता की रक्षा का मार्ग भी दिखाते हैं। जीवन जीने के लिए है। यह सुख पूर्ण जीने के लिए है। डटकर जीने के लिए है। अत उससे मुँह

मोड़ना कायरता है। जीवन की यह समर्थ भूमिका दिखाकर उसमें आने वाली अड़चनों और उन अड़चनों को दूर करने के उपायों का भी सविस्तर दर्शन समर्थजी ने किया है। अपनी गृहस्थी चलाने की अपेक्षा दूसरों की गृहस्थी बहादुरी से युक्ति से, ज्ञान से चलाने पर ही मानव जीवन सुखी बनता है इस आदर्श को अपने सामने रखकर समर्थजी ने 'रामदास' कहलाने वालों को जो सूचनाएँ दी हैं वे इस प्रकार हैं

## कार्यसाधक रामदास

समर्थजी ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि राम का दास वही बन सकता है जो प्रभु रामचन्द्रजी के आदर्शों पर चलता है। अगर सचमुच कोई दास कहलाना चाहता हो तो उसे मुख्य रूप से इन दस वचनों को अपनाना होगा।

१ ब्रह्मचर्य—दास कहलाने वाले का यह कर्तव्य होगा कि शारीरिक शक्ति को ब्रह्मचर्य से पाकर उसे पर सेवा में लगा दें। जो शरीर से निर्बल होता है, वह सेवा-कार्य में सफल नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य का पालन प्रदर्शन के लिए नहीं अपितु दुगुने उत्साह से कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए होना चाहिए। ब्रह्मचर्य का पालन काया, वाचा और मन से होना चाहिए।

२ आत्माराम प्रत्यय—जिसमें संवेदनशीलता होती है जो पर-पीड़ा को जान उसे अपनी पीड़ा अनुभव कर उसके निवार णार्थ अपना सर्वस्व लगा देता है वही आत्माराम प्रत्यय का अनुभव कर सकता है। अपने को दुनिया के स्वरूप में देखना और दुनिया को अपने स्वरूप में पाना रामदास के लिए परम आवश्यक है।

३ आत्मबोध निवेदन—स्वयं ने जो जानकारी प्राप्त की है उसे यथातथ्य दूसरों से कहने की कला को आत्मसात करना। घटा बढ़ा कर और परिणाम से वंचित किसी बात को यदि रामदास कहता हो तो वह इस अधिकार पद को नहीं पा सकता।

४ निस्पृहता—मान, सम्मान धन अथवा प्रतिष्ठा की भावना तक मन में न लाना। धर्म का प्रचार करने के हेतु साग्रह किसी से भिक्षा न माँगना और जिससे जो प्राप्ति होती है उसका संग्रह कदापि न करना।

५ दृढ़ता—बिना सोचे समझे किसी बात को न कहना और जो एक बार कहा है उस पर अटल रहना। फिर चाहे प्राण ही क्यों न गँवाने पड़ें।

६ सर्वभूतहितरतता—द्वैतभाव को दूर कर प्राणिमात्र के प्रति ममत्व की भावना रख उनकी भलाई के लिए सर्वदा प्रयत्न शील रहना।

७ पीड़ा-निवारण—किसी की पीड़ा को देख और सुन लेने के बाद उसकी पीड़ा को दूर करने के लिए ताबड़तोड़ और सफलतापूर्वक यत्न करना।

८ प्रतिपादन तृप्ति—हम जो कुछ कहते हैं वह प्रभावकारी प्रमाण रूप अगर न हुआ तो प्रतिपादन की तृप्ति का मान हमें कदापि न होगा और ऐसी दशा में रामदास कहलाने के अधिकारी न बनेंगे।

९ विमल ज्ञान—ज्ञान विज्ञान-संपन्न बनकर उससे सबको तुष्टि देने का प्रयास करना। यदि वह ज्ञान अभिमान को जगाता हो कार्यक्षम न हो तो वह ज्ञान ज्ञान नहीं है और शुद्ध ज्ञान तो

बिलकुल नहीं है—इस दृढ़ भावना से जो ज्ञान हमने पाया है उससे दूसरों को लाभ पहुँचाना।

१० दुहराना—अपने कृत संकल्पों को ज्ञान को अपने विधान को सतत दुहराते रहना। जिससे किसी कार्य या विचार का विस्मरण न हो, तथा अपने नियोजित कार्यक्रम पर डटा रहे।

## कार्यसाधक शिष्य

जिस प्रकार 'रामदास' के लिए कार्यसाधना के सिद्धांत को समर्थजी ने स्पष्ट किया है उसी प्रकार महन्त के लिए भी बीस सिद्धांतों का पालन अनिवार्य माना है। इनके महत्त्व और उपयोगिता को भी 'दासबोध' में स्पष्ट किया है।

(१) शुद्ध व साफ लिखावट का अभ्यास बढ़ाना।

(२) नियमित रूप से धर्मग्रंथ पढ़ मनन करना।

(३) जिस बात को जान लिया है वह दूसरों से कहना—किसी बात को छिपा न रखना।

(४) संदेह को पास तक न फटकने देना तथा संदेहयुक्त बरताव न करना।

(५) सतत भ्रमण कर नवीन-नवीन अनुभव करना।

(६) गायन-कला में नैपुण्य प्राप्त करना।

(७) नृत्यकला को अपनाना जो कीर्तन के अवसर पर उपयुक्त बन सकती है और जिससे दर्शक प्रभावित हो सकते हैं।

(८) ताली बजाना जिससे ताल-साधन में अंतर न हो और संगीत तथा नृत्य के उभार में मेल बढ़े।

(९) गूढ़ और कटु वचन का प्रयोग न हो। अपने कथन को स्पष्ट शब्दों में सुनाए।

हमारा कुछ उपयोग हुआ भी तो वह धिक्कार बनने के लिए ही होता है। समर्थजी कहते हैं—

शक्ति से राज्य पाए
युक्ति से कार्य साधे,
शक्ति युक्ति जहाँ होती
मुक्ति वहाँ विराजती ॥

प्रभु रामचन्द्रजी के प्रति समर्थजी के मन में अतीव निष्ठा थी। सारे युग-पुरुषों में उनके कार्य से, आदर्श से और उपायों से समर्थजी प्रभावित थे। किसी भी मंदिर में पहुँचने पर वे प्रभु रामचन्द्रजी को ही वहाँ पाते थे। और उनके साक्षात्कार से अपने को धन्य मानते थे। यहाँ तक कि हर व्यक्ति में उन्हीं के रूप को देखते थे। प्रभु रामचन्द्रजी के प्रति समर्थजी की यह धारणा थी—

पतितों का उद्धार कर, कर दुर्जनों का संहार
मुक्ति को आसव है, पाया सेव्यत्व राम मैं ॥

तर्क का आश्रय लेने वाले यदि भगवान से साक्षात्कार करना चाहेंगे तो जिस प्रकार खेलकूद या मनोविनोद के कार्य में वे तादात्म्य पाते हैं उसी प्रकार किसी भी मूर्ति के चिंतन में नियमित रूप से कुछ महीने तादात्म्य भाव से देखें। वे बहुत अल्प इस बात का अनुभव कर सकेंगे कि जिस मूर्ति के ध्यान में वे लीन रहे हैं वह मूर्ति उनकी आँखों के सामने है।

अपने को समर्थ बनाना हो तो समर्थजी संप्रदाय के अनुयायियों से कहते हैं—

जीवन में अनेकों के
प्रतिबिंब हैं समूहों को
बुद्धि बल से पाता है नर
अनायास समय पर को ॥
अच्छाई को अपनाए
जहाँ भी देखें बुरा से
बुराई का त्याग करे
बाणी मन व प्राचार से ॥

## सम्प्रदाय का साम्प्रत रूप

अपनी शक्ति और तपस्या के बल पर उन दिनों समर्थ सम्प्रदाय ने राज्याश्रय पाया था। इसलिए समर्थ-सम्प्रदाय प्रभावी कार्य कर सका। आज सम्प्रदाय चलाने वालों में न उस प्रकार की शक्ति पाई जाती है और न वह तपस्या मूर्त रूप लिए शेष है। इसीलिए आज का सम्प्रदाय राज्याश्रय न पा सका। परन्तु हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि उन दिनों का सम्प्रदाय केवल राज्याश्रय पर ही अवलम्बित नहीं था अपितु मुख्य रूप से उसने लोकाश्रय ही पाया था। लोगों की अनेक समस्याओं को दूर करने के कारण वह उसे अनायास प्राप्त हो सका। यदि आज भी जीवन की विभिन्न समस्याओं को हल करने का प्रयास होगा तो वह पुन आदरणीय बनेगा।

यह सत्य है कि समर्थ-सम्प्रदाय का कार्य विस्तार बहुत बड़ा है। परन्तु 'धर्म प्रचार' संप्रदाय का मुख्य कार्य माना जाता है। समूचे हिन्दुस्थान में और खासकर महाराष्ट्र में भक्ति प्रधान वार-

करी सम्प्रदाय जिस प्रमाण में पाया जाता है उस प्रमाण में समर्थ सम्प्रदाय नहीं है। इसके मुख्य कारण दो हैं। एक भक्ति-प्रधान प्रवृत्ति और दूसरा बौद्धिक कसौटियों पर कसकर बरती जाने वाली कार्य क्षम प्रवृत्ति। समर्थजी के जमाने में भी भक्ति-संप्रदाय का महत्त्व बहुत बड़े प्रमाण में था। परन्तु समर्थजी ने उससे सामंजस्य प्रस्थापित कर अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठापना की। परन्तु इसका मतलब यह नहीं था कि केवल उन्हीं दिनों हिंदुओं के लिए वह तारक-शक्ति निर्मित हो। यद्यपि हजारों समर्थ शिष्यों ने उन दिनों राजनीति को अपना जीवित काम माना था परन्तु समर्थजी की राजनीति धर्मबल पर आधारित थी। धर्मसत्ता को लक्ष्य मान राजनीति के क्षेत्र मे वह अवतीर्ण हुई थी। यद्यपि आज भी बड़े प्रमाण मे समर्थजी का उत्सव मनाया जाता है और समर्थ-शिष्य भी काफी संख्या में बिखरे पड़े हैं परन्तु भक्ति-प्रधान वारकरी संप्रदाय की वे बराबरी नहीं कर सकते। यह भी सत्य है कि समाज धारणा के लिए जो प्रवृत्तियाँ समर्थ-सम्प्रदाय में पाई जाती हैं वे वारकरी सम्प्रदाय में नहीं हैं। समर्थ-सम्प्रदाय तर्क-प्रधान है और वारकरी सम्प्रदाय भक्ति-प्रधान है। यद्यपि तर्क और भक्ति में मेल करने का प्रयास समर्थजी ने किया परन्तु आगे चल-कर यह परम्परा नही टिक सकी। वस्तुतः तर्क और भक्ति ये दोनों प्रवृत्तियाँ मानव-जीवन को पोषण देने वाली हैं। समर्थ सम्प्रदाय में भक्ति को प्रधानता अवश्य दी गई है पर जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों में वह विभाजित हुई है। समर्थ-सम्प्रदाय के लोग जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बिखरते हैं और अपने सम्प्रदाय के अनुसार बरतते भी हैं परन्तु वारकरी सम्प्रदाय के लोग भक्ति-

भाव को अन्य क्षेत्रों में उतना महत्त्व नहीं देते। अथवा केवल भक्तिभाव से जीवन की उलझनों को वे नहीं सुलझा सकते। मतलब समर्थ-संप्रदाय छोटा क्यों न हो परन्तु जीवन धारणा के लिए उपयुक्त होने से वह अपने प्रभाव को लिये आज भी महाराष्ट्र में स्थित है।

अगर समर्थ-सम्प्रदाय को पुन प्रभावपूर्ण करना हो तो भक्ति और तर्क-प्रधानता में मेल बढ़ाना होगा। तर्क प्रधान प्रवृत्तियाँ बड़े प्रमाण में प्रयास करने पर भी भारतीय जीवन का प्रतिनिधित्व करने में आज भी असमर्थ पाई जाती हैं। हमने यह अनुभव किया है कि देश-गौरव सुभाषचन्द्र बसु, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी अथवा स्वयं पंडित नेहरू भी अनेकानेक सम्प्रदायों को चलाकर असफल हुए हैं। अत तर्क और भक्ति के मेल को बढ़ाने पर ही आज का संप्रदाय ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है। भक्ति और तर्क का स्वतंत्र अस्तित्व भारतीय जीवन को कदापि सुखी नहीं बना सकता।

इस प्रकार की विचारधारा का अभाव मुख्य रूप से आज के समर्थ-सम्प्रदाय में दिखाई देता है। यही कारण है कि वह प्रभावी न बन सका।

फिर भी वह चाहे प्रभावी हो अथवा न हो परन्तु उससे जीवन-योग का दर्शन हमेशा होता रहा है और होता रहेगा। समाज और राजनीति के लिए साधन सुचिता का अभाव होने पर भी धर्म नीति का जो रूप सम्प्रदाय ने अपनाया है वह हिन्दू जाति के लिए आज भी बोधप्रद अवश्य बनता है। समर्थजी का आदर्श जितने प्रमाण में धार्मिक क्षेत्र में बरता जाता है उतने प्रमाण में

सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में आज नहीं बरता जाता। इसीलिए समर्थ-संप्रदाय जीवन को पोषित करने में असमर्थ बना है। आज सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में जो महानुभाव आज काम करते हैं वे अगर संप्रदाय के आदर्श पर काम करेंगे तो निश्चय ही यह संप्रदाय पुन जीवन में जीवन भरकर समर्थ बनेगा। 'दासबोध' अथवा समर्थ-संप्रदाय का मंतव्य आज यह कहता है—

> एक और भक्ति के मेल से धर्मसत्ता की स्थापना कर सामाजिक एवं राजनैतिक उलझनों को ज्ञान-विज्ञान के बल से सुलझाओ।

परन्तु आज देखा यह जाता है कि राजनीति और समाजनीति में धर्म के लिए बिलकुल स्थान नहीं है। धर्म की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्त्व दिया जाता है। ज्ञान के बल पर ही सामाजिक और राजनतिक प्रश्न सुलझाए जाते हैं। परन्तु ज्ञान का भूमिका स्थिर नहीं है। अपनी-अपनी अनुभूति और संस्कारों के अनुसार प्राप्त ज्ञान से राजनैतिक और सामाजिक प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति सुलझाने का प्रयास करता है। कोई धर्म की भूमिका को ज्ञान के क्षेत्र में अधिक महत्त्व देता है और कोई समाज अथवा व्यक्ति-प्रधानता का पक्षपाती बन ज्ञान का प्रदर्शन करता है। परन्तु यह प्रयास पाश्चात्य ढंग पर आधारित है। यही कारण है कि भारत वर्ष में अनेक पंथ और पक्ष सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को हल करने का भीम प्रयत्न कर चुके हैं और कर रहे हैं फिर भी जीवन विषयक समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी हुई हैं अपितु अधिक जटिल हो रही हैं। अत भारतीय स्वभाव-सिद्ध भूमिका

को ही लक्ष्य कर ज्ञान की मीमांसा निर्धारित करने पर ये प्रश्न सुलझाए जा सकते हैं। किसी विशिष्ट कार्य के भाग्रह द्वारा ये प्रश्न हल नहीं हो सकेंगे। गत सौ वर्षों के इतिहास का अध्ययन करने के बाद हमें ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान के क्षेत्र में भारतीय धर्म-मत ही ज्ञान विज्ञान सपन्न है अतः उसी के आधार पर सामाजिक एवं राजनैतिक प्रश्नों को हल करना श्रेयस्कर होगा। क्योंकि भारतीय धर्म-मत किसी विशिष्ट पंथ या पक्ष का आग्रही नहीं है। वह स्वभाव सिद्ध है। सर्व-संग्रही है। इसी भूमिका के आधार पर तो साबरमती आश्रम में शांति-निकेतन में, बनारस विश्वविद्यालय में अथवा तिलक विद्यापीठ में धर्म प्रार्थना को महत्त्व दिया गया था। समर्थ-संप्रदाय का यह कर्तव्य है कि आज भी वह राजनैतिक और सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने के लिए धर्मप्रधान योजना को जनता के सम्मुख रखे। जिससे जीवन की गुत्थियाँ सुलझकर भारतीय जीवन समर्थ बने। दरअसल स्वराज्य प्राप्ति के बाद हमारा जीवन संपन्न बनना चाहिए था। पर वह नहीं बना। अतः सर्वसम्मत धर्म भूमिका का अवलंबन परम आवश्यक हुआ है क्योंकि हमारा धर्म-मत विशाल सर्व-संग्रही और उत्कर्ष प्रधान है। देखा यह गया है कि समर्थजी के अनन्तर वीर सावरकरजी ने इस धर्म-मत का विश्लेषण अपने ग्रंथों में किया है। समर्थजी और वीर सावरकरजी के ग्रंथों का यह मंतव्य है कि भारतीय जीवन हिन्दू धर्म-मत के अनुसार ही उन्नत हो सकता है। अपने आपकी रक्षा करने के बाद ही दूसरों की रक्षा का प्रश्न उठता है और वह हिन्दू धर्म-मत के अनुसार सतोषजनक ढंग से सुलझाया भी जा सकता है। अतः सबसे पहले हमें अपने पैरों पर

सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में आज नहीं बरता जाता। इसीलिए समर्थ-संप्रदाय जीवन को पोषित करने में असमर्थ बना है। आज सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में जो महानुभाव आज काम करते हैं वे अगर संप्रदाय के आधार पर काम करेंगे तो निश्चय ही यह संप्रदाय पुनः जीवन में जीवन भरकर समर्थ बनेगा। 'दासबोध' अथवा समर्थ-संप्रदाय का मंतव्य आज यह कहता है—

> तर्क और भक्ति के मेल से धर्मसत्ता की स्थापना कर सामाजिक एवं राजनैतिक उलझनों को ज्ञान-विज्ञान के बल से सुलझाओ।

परन्तु आज देखा यह जाता है कि राजनीति और समाज-नीति में धर्म के लिए बिलकुल स्थान नहीं है। धर्म की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्त्व दिया जाता है। ज्ञान के बल पर ही सामाजिक और राजनैतिक प्रश्न सुलझाए जाते हैं। परन्तु ज्ञान की भूमिका स्थिर नहीं है। अपनी-अपनी अनुभूति और संस्कारों के अनुसार प्राप्त ज्ञान से राजनैतिक और सामाजिक प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति सुलझाने का प्रयास करता है। कोई धर्म की भूमिका को ज्ञान के क्षेत्र में अधिक महत्त्व देता है और कोई समाज अथवा व्यक्ति प्रधानता का पक्षपाती बन ज्ञान का प्रदर्शन करता है। परन्तु यह प्रयास पाश्चात्य ढंग पर आधारित है। यही कारण है कि भारत वर्ष में अनेक पंथ और पक्ष सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को हल करने का दीर्घ प्रयत्न कर चुके हैं और कर रहे हैं फिर भी जीवन विषयक समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी हुई हैं अपितु अधिक जटिल हो रही हैं। अतः भारतीय स्वभाव सिद्ध भूमिका

को ही लक्ष्य कर ज्ञान की मीमांसा निर्धारित करने पर ये प्रश्न सुलझाए जा सकते हैं। किसी विशिष्ट काय के आग्रह द्वारा ये प्रश्न हल नहीं हो सकते। गत सौ वर्षों के इतिहास का अध्ययन करने के बाद हमें ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान के क्षेत्र में भारतीय धर्म मत ही ज्ञान विज्ञान संपन्न है, अत: उसी के आधार पर सामाजिक एवं राजनैतिक प्रश्नों को हल करना श्रेयस्कर होगा। क्योंकि भारतीय धर्म-मत किसी विशिष्ट पंथ या पक्ष का आग्रही नहीं है। वह स्वभाव-सिद्ध है। सर्व-संग्रही है। इसी भूमिका के आधार पर तो साबरमती आश्रम में शांति-निकेतन में, बनारस विश्वविद्यालय में अथवा तिलक विद्यापीठ में धर्म प्रार्थना को महत्त्व दिया गया था। समर्थ-संप्रदाय का यह कर्तव्य है कि आज भी वह राजनैतिक और सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने के लिए धर्मप्रधान योजना को जनता के सम्मुख रखे। जिससे जीवन की गुत्थियाँ सुलझकर भारतीय जीवन समर्थ बने। दरअसल स्वराज्य प्राप्ति के बाद हमारा जीवन संपन्न बनना चाहिए था। पर वह नहीं बना। अत: सर्वसम्मत धर्म भूमिका का अवलंबन परम आवश्यक हुआ है क्योंकि हमारा धर्म-मत विशाल सर्व-संग्रही और उत्कर्ष-प्रधान है। देखा यह गया है कि समर्थश्री के अनन्तर वीर सावरकरजी ने इस धर्म-मत का विश्लेषण अपने ग्रंथों में किया है। समर्थश्री और वीर सावरकरजी के ग्रंथों का यह मतव्य है कि भारतीय जीवन हिन्दू धर्म-मत के अनुसार ही उन्नत हो सकता है। अपने आपकी रक्षा करने के बाद ही दूसरों की रक्षा का प्रश्न उठता है और वह हिन्दू धर्म मत के अनुसार सतोषजनक ढंग से सुलझाया भी जा सकता है। अत: सबसे पहले हमें अपने पैरों पर

खड़े होना चाहिए। परन्तु देखा यह जाता है कि आजकल अपनी चिंता करने की अपेक्षा हम दूसरों की चिंता अधिक करते हैं। समर्थजी ने इस निवृत्ति-मार्ग का घोर विरोध किया है। सो समर्थ-सम्प्रदाय की नीति आज भी चल सकती है, यदि उसकी रचना में परिवर्तन हो। समर्थ-संप्रदाय का यह परम धर्म है कि वह इस भूमिका पर गंभीर होकर विचार करे।

# चमत्कार के चमत्कार

अपनी बुद्धि और क्षमता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति चमत्कार दिखा सकता है और कदाचित वह बुद्धिगम्य एवं अगम्य भी बन सकता है। परन्तु वह चमत्कार यदि हम या राष्ट्र को जीवन देने में असमर्थ हो तो निश्चय ही हमारे लिए हानिप्रद बनता है। उससे हम कुतर्क के वश में आ जाते हैं। वस्तुतः चमत्कार की भूमिका एक आदर्श और उपयुक्त कार्य के लिए प्रेरणा देने वाली होती है। चमत्कार की परिभाषा उसका अन्वय और अर्थ लगाने की क्षमता मात्र हममें होनी चाहिए। उसके अभाव में चमत्कार को अनहोनी घटना या अतर्क्य घटना कहकर टालने के प्रयास को ही हम बुद्धिमानी समझते हैं। यह सत्य है कि प्रत्येक युग के चमत्कार शक्ति और परिस्थिति के अनुसार विभिन्न पाए जाते हैं वे समान नहीं होते।

आजकल इस धारणा को हम सर्वसम्मत मानते हैं कि हमारा दृष्टिकोण कुछ वास्तववादी हो गया है। इसी भूमिका के आधार पर या तो धार्मिक चमत्कारों की हम खिल्ली उड़ाते हैं या भक्ति-भाव से उनका गौरव गाते हैं। परन्तु हमने कभी यह प्रयास नहीं किया कि वास्तव में वे चमत्कार उन दिनों उस अवस्था में किस प्रकार जीवनदायी हुए थे।

समर्थ रामदासजी के जो चमत्कार यहाँ प्रस्तुत हैं वे सब

राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन में चेतना भरने और व्यक्तिगत जीवन को विकसित करने वाले हैं। परन्तु इन चमत्कारों के चित्रण में उपरोक्त दोनों भावों का आश्रय नहीं लिया गया। 'दासबोध' अथवा उपलब्ध समर्थ-साहित्य के आधार पर हो समर्थजी के चमत्कारों का अन्वय और अर्थ लगाया गया है जो शाश्वत जीवन का प्रेरक होगा।

## हिंसा-अहिंसा की मर्यादा

बारह वर्ष घोर तपस्या और बारह वर्ष भारत भ्रमण कर चुकने के बाद समर्थजी ने योग सिद्धियाँ प्राप्त कीं। मानो वे अपनी कार्य विधाओं को निश्चित कर सके। उन सारी सिद्धियों को उन्होंने धर्म-सेवा में—जन-सेवा में लगा दिया। जब वे उत्तर भारत का भ्रमण कर महाराष्ट्र के धर्मक्षेत्र पैठण गाँव में आए तब उनके हाथ में धनुष और पीठ पर तरकश था। कुछ ब्राह्मणों ने उनको इस वेश में देखकर मजाक उड़ाने के लिए कहा—

"क्यों महाराज, केवल शस्त्र धारण किए हो या इसे चलाना भी जानते हो? केवल शस्त्र धारण करने से मनुष्य बहादुर नहीं बन सकता। यदि सचमुच तुम बहादुर हो तो आसमान में उड़ने वाली उस चील पर अपना निशाना जमाकर दिखाओ। देखें तुम कैसे शस्त्रधारी हो?'

ब्राह्मणों की इच्छा को ताड़कर समर्थजी ने तीर चलाया। ज्यों ही तीर तरकश से निकला त्यों ही वह चील जमीन पर आ गिरा।

उस मृत चील को देखकर ब्राह्मण कहने लगे, "साधु महाराज!

संसार का त्याग करने पर भी इतना घोर पाप! शिव शिव शिव! क्या अहिंसा के मामूली सिद्धांत को भी तुम नहीं जानते? क्या



[illegible]

तुम यह मानते हो कि चील के कोई प्राण ही नहीं होते? क्यों नाहक साधुत्व का स्वांग लिए धर्म का प्रदर्शन करते हो? तुम्हें अब प्रायश्चित करना होगा।"

यह कहकर ब्राह्मणों ने समर्थजी को पकड़ नाई के द्वारा उनका मुंडन कराया। और समर्थजी भी चुपचाप ब्राह्मणों की ताड़ना सहते रहे। इतना ही नहीं क्षौर के पश्चात् उन्होंने विधि

युक्त प्रायश्चित भी किया।

शास्त्राधार से युक्त प्रायश्चित करने वाले समर्थजी को देख ब्राह्मणों में मजाक की भावना पुनः जाग उठी। वे कहने लगे—

"भाई, शास्त्र में तो तुम निपुण हो। परन्तु क्या तुम्हारे शास्त्र में प्राणदान की विधि भी है? या केवल कोरे शास्त्री हो तुम? जरा दिखाओ तो अपने शास्त्र का प्रताप? अगर चील को प्राण-दान दे सको तो हम मानेंगे कि तुम सचमुच शास्त्री हो। अन्यथा यह सिद्ध होगा कि तुम मात्र हिंसा के पुजारी हो।"

ब्राह्मणों का यह भाषण सुन समर्थजी ने उस चील के शरीर को सहलाया। हाथ के स्पर्श से वह चील बात की बात में उड़ गई। ब्राह्मण देवता मुँह लटकाए रह गए।

समर्थजी की सामर्थ्य को अब वे देख चुके थे परख चुके थे। जब उन्होंने समर्थजी के प्रताप को देखा तब अपने क्षुद्र आचरण पर उन्हें परिताप हुआ। वे समर्थजी से क्षमा-याचना करने लगे और अनुग्रह के लिए हठ भी करने लगे। तब समर्थजी ने उन सबको 'श्रीराम जय राम जय जय राम' का गुरुमंत्र देकर कहा—

"भाई! शस्त्र और शास्त्र का एक ही लक्ष्य होता है। दोनों मानव-जीवन की कल्याण साधना के सूत्र हैं। लेकिन भ्रम के कारण शस्त्र और शास्त्र की मर्यादा को तुम भूल गए हो। जो शस्त्र धारण करता है उसे शास्त्र भी जानना चाहिए और जो शास्त्र जानता है उसे शस्त्रविद्या में भी निपुण होना चाहिए। शस्त्र और शास्त्र दोनों एक दूसरे के पोषक एवं एक दूसरे पर अवलंबित हैं— जैसे प्रकृति और पुरुष। लेकिन जीवन के विकृत रूप को वास्तव मान तुम न शास्त्र के आदर्श को जान पाए हो न शस्त्र की महत्ता

का तुम्हें परिचय मिला है। हिंसा का अधिकारी वही बन सकता है जो अहिंसा की मर्यादा को जानता है। वह हिंसाचार शास्त्र सम्मत नहीं है जो अकारण और द्वेषबुद्धि से किया गया हो। शस्त्र की अपेक्षा शास्त्र श्रेष्ठ है। जो शास्त्र में पारगत बनता है वही शस्त्र ग्रहण कर सकता है। और शास्त्र की रक्षा के लिए उसका उपयोग धर्म-बुद्धि से कर सकता है।"

जर्मनी के महान दार्शनिक श्री आइनस्टाइन और हमारे राष्ट्रनेता पं० नेहरू इसी भूमिका का विस्तार करते हैं जो भगवान श्रीकृष्ण ने और प्रभु रामचन्द्रजी ने प्रस्तुत की है। परन्तु आज माना यह जाता है कि शस्त्र केवल हिंसा के लिए हैं फिर चाहे वह हिंसा अतिक्रमण से हो, अमोघ प्रवज्या में हो अथवा आत्मरक्षा के लिए हो परन्तु शास्त्र से उसकी सम्मति नहीं ली जाती है। शास्त्र से सम्मत शस्त्र का उपयोग भारतीय जीवन का योग है। रावण और वाली का जो वध राम के द्वारा हुआ है वह इसी भूमिका के आधार पर हुआ है। शूर्पनखा का अगभग या कंस की हत्या भी इसी कारण का संकेत करती है। समर्थ रामदासजी ने भी इसी भूमिका को लक्ष्य कर अधार्मिक लोगों का वध करके महाराष्ट्र धर्म की रक्षा के लिए महाराष्ट्रीय जनता को जगाया। शास्त्र की रक्षा के लिए शस्त्र चलाने की सलाह दी। दर्शन और विज्ञान के मेल का आग्रह पंडित नेहरू इसी भूमिका के आधार पर करते हैं। वे कहते हैं कि यदि विज्ञान को जीवित रखना हो—विज्ञान से मानव-जीवन को सुखी बनाना हो—तो विज्ञान का संबंध दर्शन के साथ जोड़ देना चाहिए। अन्यथा विज्ञान और दर्शन का विनाश होगा।

आधुनिक युग में चील के प्राणदान की घटना कुछ अघटित

अवश्य प्रतीत होती है परन्तु ऐसी अनेक घटनाएँ कथा-पुराणों में हम पढ़ते हैं। तो समर्थजी की इस घटना को प्रामाणिक मानने में क्या हर्ज है ? कदाचित समर्थजी के सहलाने पर चील को आत्म सन्तोष हुआ होगा और आत्मसन्तोष ही मोक्ष माना जाता है। इस शास्त्रीय दृष्टि से हमें यह मानना होगा कि इसी अर्थ में चील ने अमर जीवन यानी मोक्ष पाया होगा। समर्थ यानी बड़ों की कृपा-दृष्टि से जिस प्रकार जीवन सफल एवं सुखी बनता है ठीक इसी प्रकार चील ने प्राणदान पाया होगा।

## दृष्टि-दान

जन्मदात्री माँ और घर-बार से बिछुड़ने के बाद समर्थ रामदासजी लोक-कल्याण व जन जागृति में अपने-आपको भी भूल गए थे। लगभग चौबीस वर्षों के बाद जब एक बार वे पैठण गाँव में कीर्तन कर रहे थे तब श्रोताओं में कुछ ग्रामनिवासी भी उपस्थित थे। समर्थजी का कीर्तन सुनकर सब श्रोता मंत्रमुग्ध हो गए। ग्रामनिवासी भी हरि-कीर्तन में लीन सुधबुध खोए समर्थजी की जीवनदायिनी वाणी से जीवन प्राप्त कर विभोर हो रहे थे। जब कीर्तन समाप्त हुआ तब कृतार्थ भाव से वे समर्थजी की शरण में आए। जब उन्होंने ध्यानपूर्वक देखा तब समर्थजी को तुरंत पहचान लिया और भीत अंतःकरण से परिचय पाने के हेतु समर्थजी की माता के पुत्रशोक एवं अंधत्व का जिक्र किया। समर्थजी ने माताजी की दुरावस्था को जानकर तुरन्त माता की सेवा में उपस्थित होने की अटूट इच्छा से जन्मभूमि गाँव के लिए प्रस्थान किया। जब वे 'जय जय रघुवीर समर्थ' की घोषणा कर

आँगन में खड़े हुए तब उनकी आवाज़ से ही बूढ़ी माता ने उन्हें पहचान लिया। जब वे 'नारायण' कहकर पुकार उठीं तब समर्थजी



दृष्टि-दान

उनसे बालक की तरह लिपट गए। जी भर मिल लेने के बाद दोनों संतुष्ट हुए। मिलन से बहने वाली आनन्दाश्रु की धाराएँ जब थम गईं तब समर्थजी ने अपनी अंधी माता को पूर्ण रूप से देखा। विरह-जनित जर्जर अवस्था और अंधत्व असह्य हो गया। समर्थजी ने उनकी आँखों पर हाथ फेरा। हाथ के स्पर्श से माताजी ने पुनः दृष्टि पाई और प्रसन्न होकर पूछा, "बेटा, क्या मेरा

और जादूमंतर में भी तुम पारंगत हुए हो? अथवा किसी पिशाच बाधा ने तुम्हें झपट लिया है?'

समर्थजी ने अपने 'दासबोध' में इस प्रश्न का उत्तर सम्यग्‌ रूप से दिया है। वे कहते हैं "हाँ माँ मुझे पिशाच ने ही झपट लिया है और वह अपनी झपट को जरा भी ढील देने के लिए तयार नहीं है। उसने मुझे इस प्रकार कस लिया है कि उस जकड़ के बदले में संतोष ही संतोष पाता हूँ। वह पिशाच है वैकुण्ठवासी, अयोध्यास्थित बाली का वधिक, सुग्रीव का हितैषी और चौदह वर्ष वनवास में रहकर जनता की सेवा करने वाला तथा पाषाण का भी उद्धार करने वाला।"

भूत-बाधा का यह विश्लेषण प्रकट करता है कि समर्थजी प्रभु रामचन्द्रजी के अनन्य उपासक थे। उनकी सेवा से उन्होंने अपने जीवन को सफल बनाया था। भक्तियोग की इस शक्ति के कारण ही माताजी को वे दृष्टि का दान दे सके। इस घटना को भी हम अघटित मान सकते हैं फिर भी हमें यह मानना पड़ेगा कि सर्व भूत हित रत की भावना माता में निर्मित हुई होगी और यह भावना ही अंतरदृष्टि की जागृति का कारण बन सकती है।

## बुद्धि की कसौटी

मैं सोचता हूँ जिस क्षण
कल्याण आता है अनमाना।
बुद्धि छोड़ जाता है जब
जाकर करता हूँ कीर्तन तब।

एक बार समर्थजी कीर्तन के रंग में रंग गए थे। समस्त शिष्य

कल्याण स्वामी साथ द रहे थ । वचन या अभंग को उभार कर गाने से समर्थजी की वाणी में एक प्रकार के तेज का निर्माण हुआ था। कीर्तन की समाप्ति पर समर्थजी ने कीर्तन की बहार का उप रोक्त स्पष्टीकरण किया जिसे सुनकर दांत दंग रह गए। सोचने लगे 'कल्याण निरा गंवार है। वह बेचारा समर्थजी की सामर्थ्य को नहीं जानता। वे स्वयं रचते हैं पर यह व्यर्थ मात में मूसरचंद बनकर पूरा भोजन मुफ्त निगल जाता है और समर्थजी बचा-खुचा जूठन खाकर अपनी सेवाएं पूर्ण करते हैं जिससे हम पावन बन जाते हैं।

गवैयों की इस कानाफूसी को सुनकर जब समर्थजी को लगी तब उन्हें दुःख हुआ। उन्होंने अनुभव किया कि बौद्धिक स्तर ऊपर उठाए बिना जनता से अपेक्षित कार्य नहीं लिया जा सकता। यदि समाज ऊपर न उठ सका तो भक्तिभाव और शुद्ध अंतःकरण होते हुए भी अज्ञान के कारण वह नाहक कुचला जाएगा। अपना आपका स्वयं नाश कर लेगा। यदि मैं उक्त वचन का अर्थ स्पष्ट न करूंगा तो समझ वाले बेसमझ वालों से घृणा करेंगे। यह सोचकर समर्थजी ने दूसरी बार कीर्तन में पुनः उस अभंग को गाकर उसके भावार्थ को समझाया तब कहीं शिष्य कल्याण की योग्यता का पता बुद्धिहीनों ने जाना। समर्थजी ने बतलाया—

'मैं रचना करता हूं। कल्याण उन्हें कंठस्थ करता है और कीर्तन में गाता है इसीलिए कीर्तन में बहार आती है।'

## आत्मसाक्षात्कार

समर्थजी की वयूबाई नाम की एक शिष्या थी। उसकी निष्ठा

सेवा और त्याग देखकर समर्थजी उस पर प्रसन्न थे। यों तो कार्य वश महाराष्ट्र का प्रत्येक शिष्य या महंत स्वामीजी से किसी भी अवसर पर कहीं भी मिल लेता था। पर रामनवमी के अवसर पर सभी शिष्य और महंत समर्थजी के पास चाफळ में इकट्ठा होते थे। एक बार मानो थकी-माँदी वेणूबाई प्राणों को लिए केवल समर्थजी से मिलने और प्रभु रामचन्द्र के उत्सव में अंतिम बार शरीक होना है इस भावना से आई। जब वह समर्थजी के चरणों से लिपट गई तब समर्थजी ने उससे पूछा 'क्यों थक क्यों गई हो? क्या चाहती हो?'

आप सर्वसाक्षी हैं। आपको सभी इच्छा-अनिच्छाओं का पता है। मुझसे क्यों कहलाते हैं?' वेणूबाई ने जवाब दिया।

'सो तो मैं जानता हूँ कि तुम अब इस शरीर का त्याग करना चाहती हो। पर तुम्हें दो वर्ष अनुज्ञा नहीं दी जा सकती।'

वेणूबाई बोली "वस्तुत: मैं इस उत्सव में अंतिम बार शरीक होकर और आपसे मिलकर शरीर त्याग करना चाहती थी। परन्तु अब मैं आपकी आज्ञा को किस प्रकार टाल सकती हूँ। यद्यपि अब शरीर में प्राण नहीं रहा है। उसके त्यागने पर ही उसको मुक्ति है।"

क्रम के अनुसार दूसरे वर्ष भी वेणूबाई उत्सव में उपस्थित हुई। आते ही समर्थजी से प्रार्थना कर उसने आज्ञा चाही। परन्तु समर्थजी ने इतना ही कहा, आज नहीं।

प्रतिदिन यही होता रहा। अंत में हताश हो वेणूबाई ने बड़े आग्रह से कहा "आज अनुज्ञा मिलनी ही चाहिए।"

समर्थजी ने कहा, ठीक है। आज तुम शरीर त्याग सकती हो

परन्तु शाम को कीर्तन के पश्चात् ।

वेणूबाई ने सहस्र मुखों से धन्यवाद दिया और प्रसन्न अंतः-करण से दैनिक कार्यक्रम प्रारम्भ किया ।

समर्थजी ने दूसरी शिष्या अक्काबाई को बुलाकर कहा, "आज वेणूबाई को बिदा करना है । इसलिए कुछ मीठा खाना पके ।"



आत्मसाक्षात्कार

खाना पकने पर मिष्टान्न भोग हुआ । वेणूबाई को बिदा करने के हेतु सब शिष्यों के साथ-साथ समर्थजी ने भी भोजन पाया । वेणूबाई दिनभर सबसे प्रसन्नतापूर्वक मिलती रही । अन्तम

पूजन कथा प्रवचन में हिस्सा लेती रही। अब शाम के आठ बजे और कीर्तन प्रारम्भ करने का समय हुआ तब पुनः वेणूबाई ने समर्थजी से अनुज्ञा चाही। समर्थजी बोले 'आज तुम्हें कीर्तन करना है। कीर्तन के पश्चात् तुम स्वतंत्र हो।

समर्थजी की आज्ञा पा वेणूबाई ने पूरे दो घंटे कीर्तन किया। कीर्तन में जो पद गाए या जो दृष्टांत दिए उनका ढंग कुछ अलौकिक था। कीर्तन में सुधबुध भूली वेणूबाई एक रूप हो गई थी।

कीर्तन समाप्त हुआ। प्रभु रामचन्द्रजी की आरती उतारी गई और 'श्री राम जय राम जय जय राम' का अंतिम निर्घोष कर वेणूबाई प्रभु रामचन्द्रजी के चरणों से लिपट गई और उसने अपने शरीर का त्याग किया।

अटूट इच्छा और मनोनिग्रह की यह अलौकिक घटना एक चमत्कार ही तो है। मनचले भौतिकवादी भी इस पर आशंका नहीं उठा सकते। यदि वे इस तर्क-संगति को अधिक विस्तार से जानना चाहते हों तो अपने बुजुर्गों से पूछें कि पुराने जमाने में क्योंकर अपनी मृत्यु को लोग देख सकते थे और इच्छा के अनुसार किस प्रकार मृत्यु का स्वागत करते थे।

## कुबड़ी तीर्थ

किसी राजनैतिक उलझन को सुलझाने के लिए शिवाजी राजा समर्थजी से मंतव्य करने के वास्ते रायगढ़ से चापळ की ओर रवाना हुए। जल्दी थी इसलिए भूख-प्यास की चिंता न कर वे तुरंत चल दिए थे। दिनभर चलते ही रहे। गरमी के दिन थे। घोड़ा भी इसलिए परेशान था कि कहीं मालिक को देरी न हो।

तेज दौड़ने से वह भी पसीने से तर हो गया था।

समर्थजी ने मन ही मन शिवाजी की यह अवस्था जानी। महाराष्ट्र धर्म के वर्धन में देर न हो और आने वाले संकट से शिवाजी भयभीत होंगे इस विचार से व भी तत्काल निकले। दो तीन मील के फासले पर ही वे एक-दूसरे से मिले।

अचानक समर्थजी को सम्मुख देख शिवाजी आश्चर्य चकित हुए। नमस्कार चमत्कार के बाद (यथोचित मान-सम्मान के बाद) शिवाजी राजा कहने लगे "मैं परामर्श के लिए आप ही के पास आ रहा था। अब यहीं कहीं निर्जन स्थान में बैठेंगे। लेकिन मुझे प्यास ने बहुत सताया है। ठीक तौर से बोल भी नहीं सकूँगा।"

समर्थजी ने कहा, "सो तो मैं जान ही चुका था। इसीलिए तो आ निकला।' यह कहकर अपनी कुबड़ी (सन्यासी की लाठी-विशेष) से उन्होंने एक बड़े पत्थर को पलट दिया। जैसे ही पत्थर पलटा वैसे ही भूमि से एक साफ और सुन्दर झरना बह निकला।

यह देखकर शिवाजी राजा अवाक् रह गए। उस साफ-सुथरे जल का प्राशन करने के बाद उन्होंने विशेष स्वस्थता का अनुभव किया।

वार्ता विलास में अफजलखान के आगमन का हेतु, उससे किस प्रकार मुकाबला करना चाहिए प्रत्यक्ष युद्ध करने पर हमारी दाल तो नहीं गलेगी वरन् हमारा विनाश हो जायगा, अत उसका स्वागत कर उसको संतोष दिला, मिलने के बहाने एकांत में वध करना ही उचित होगा, यदि यह काम न बन सका तो प्रतापगढ़ की घाटियों में अपनी सेना छिपाकर तोप की आवाज सुनते ही धावा बोलने के लिए तैयार रहना, स्वागत और संतोष की

सामग्रियों की अपने गुप्त दूतों से जानकारी प्राप्त करना, आदि सूचनाएँ समर्थजी ने दीं और शिवाजी राजा को विदा किया। पाठकों को पता होगा कि इन्हीं सूचनाओं के अनुसार शिवाजी ने अफ़ज़लख़ान का वध किया।

समर्थजी की कुबड़ी से पानी का झरना जहाँ फूट पड़ा था उसी स्थान को कुबड़ी तीर्थ कहते हैं। वह आज भी मौजूद है और भूले भटकों को राह दिखाता है—जैसे समर्थजी ने शिवाजी को मार्ग दिखाया था।

यह स्थान और यह कथा मनगढ़ंत समझी जाती है। आस्तिक भाव से समर्थजी को युगपुरुष समझने वाले इस घटना को चमत्कार समझकर इस स्थान का आदर करते हैं। परन्तु कुछ लोग इसे 'मूर्खता' कहकर धर्म-श्रद्धा पर तीखा व्यंग कसते हैं और अपने विज्ञान का प्रदर्शन करते हैं। लेकिन वे यह नहीं जानते कि समर्थजी नियमित रूप से दो हजार डंड लगाते थे। वे शक्ति-सम्पन्न थे। आजीवन ब्रह्मचर्य रहकर आतप शीत और वर्षा को सहकर उन्होंने शरीर के प्रत्येक अवयव को मज़बूत बनाया था। उनकी कुबड़ी भी लोहे के समान भारी भरकम थी। इसके अतिरिक्त पहाड़ों की ढलानों में पानी का प्रवाह भूमिगत रूप से बहता भी रहता है। इन सामान्य घटनाओं को यदि हम जान लेंगे तो हमें विश्वास होगा कि यह कुबड़ी तीर्थ कोई चमत्कार नहीं, एक वास्तविक घटना है। शक्ति-सम्पन्न समर्थजी ने भारी भरकम कुबड़ी से पथरीय ढलान का बड़ा पत्थर पलटा और वह झरना फूट पड़ा।

## बोहन

समर्थजी अपने शिष्यों के साथ भ्रमण के लिए निकले थे। एक वन प्रदेश में आस-पास बहुत ग्राम थे। उस वन प्रदेश की यथोचित जानकारी प्राप्त कर उसे धर्म और राज्य-स्थापना का चस्का लगाना नीति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य था। यह कार्य एक बार भाषण देकर भजन गाकर अथवा कीर्तन सुनाकर बनने वाला नहीं था। उस प्रदेश में कुछ महीने बिताने की आवश्यकता थी। अतः एक ग्राम में एक निःसंतान परन्तु धार्मिक बुढ़िया के यहाँ वे सब निवास कर प्रचार-कार्य में लग गए।

बुढ़िया के यहाँ दो भैंसें थीं। वे काफी दूध देती थीं। उसी दूध से वह अपना गुजारा और अभ्यागतों का स्वागत करती थी। अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के अनुसार भक्तिभाव से उसने एक-दो दिन उन्हें खिलाया पिलाया। पर जब उसने यह जाना कि समर्थजी कुछ महीने यहाँ निवास करना चाहते हैं तब कहा 'महाराज आप तो देखते ही हैं कि मैं बुढ़िया हूँ। आप बड़े आनन्द के साथ यहाँ रह सकते हैं। पर घर के कामों में हाथ बँटाएँगे तब।'

बुढ़िया की बात सुनकर समर्थ शिष्य कल्याण स्वामी ने आपस में काम का बँटवारा किया। सब काम यथासमय होने लगे और अड़ोस-पड़ोस के ग्रामों में प्रचार शुरू हुआ।

एक शिष्य के जिम्मे भैंसों को चराने का काम दिया गया था। अर्थात् वह प्रचार-कार्य से छुट्टी पाता था। क्योंकि उन भैंसों के बल पर ही वे खा-पी सकते थे। एक दिन वह शिष्य 'दासबोध' की शुद्ध अक्षरों से नकल उतारने का काम एक पेड़ के नीचे बैठकर कर रहा था। भैंसें दूर चरनी में चरती थीं। कहीं से शेर आ धमका

और वह एक बछड़े को चट कर गया। शिष्य महाराज 'दासबोध' के गहन ग्रंथ को सुलझाते हुए अपने आप में लीन बैठे रहे। उसी अवस्था में संध्या समय वे घर लौटे।



दोहन का स्रोत—प्रेम

जब भैंसों के दोहन का समय हुआ तब बुढ़िया बछड़ों को खोलने गई। उसे पता चला कि एक बछड़ा गायब है। उसने शिष्यजी से पूछा पर शिष्यजी बगलें झाँकने लगे। तब बुढ़िया क्रोधित होकर बोली कि अभी-अभी मेरा बछड़ा ला दो वरना अच्छे बनो तब कल्याण स्वामी उसे ढूँढने गए। लौटकर उन्होंने उसकी मृत्यु की खबर सुनाई।

बुढ़िया चिढ़ गई। कहने लगी 'मरे लाते तो देखें हैं। अब

पता चलेगा कि कहाँ और कौन इस प्रदेश में मिला मिल सकता है ?"

एक शिष्य ने सुझाया 'चलो एक भैंस के दूध पर ही आज की रात काट देवें।' यह कहकर दूसरे बछड़े को स्तनपान कराने के हेतु छोड़ दिया। पर वह बछड़ा भी दुःखद अन्त करण से अपनी माता की गोद से सटकर खड़ा हो गया। दूध पीना मानो जानता ही न हो।

भैंसें बेचारी अपनी भाषा में अपना हार्दिक दुःख प्रगट कर रही थीं। उनके स्तन प्राकृतिक नियम के अनुसार दूध से फट जाना चाहते थे जिससे वे परेशान थीं। इस अवस्था को देख बुढ़िया जल-भुनकर चिल्लाने लगी, "सत्यानाशियो! तुमने मेरे जीवन का बरबाद कर दिया। अब मैं कैसे जीऊँगी। इसी क्षण दयाकर मेरी आँखों से दूर हट जाओ।'

समर्थजी बैठे चुपचाप देख और सुन रहे थे। उन्होंने उन भैंसों को चराने वाले शिष्य से कहा 'जरा हाँडा लेकर दोहन तो करो।' शिष्य ने हाँडा उठाया और भैंसों के पास उन्हें सहलाकर दुहने के लिए नीचे बैठ गया। जैसे ही उसने दूध दुहना शुरू किया वैसे ही वे भैंसें पूर्ववत् दूध देने लगीं। यह देख बुढ़िया चौंक पड़ी। उसने अनुभव किया कि ये साधू ऐसे-वैसे नहीं हैं। उसे मालूम था कि बिना बच्चे के गोएं अथवा भैंसें दूध नहीं देती हैं।

बुढ़िया भक्तिभाव से समर्थजी की शरण में आई और उनसे अनुग्रह पाकर मोक्ष की अधिकारिणी बनी।

इस चमत्कार से अनेकों शास्त्रीय अनुसंधानों का पता हम लगा सकता है। (१) भैंसों का आचरण। अपने बालक के सा

जाने पर जिस दुःख का अनुभव माता करती है वह पूर्ण मात्रा से उसमें था। (२) उस दुःख का परिताप उसी की हद तक सीमित नहीं रहा परन्तु उसके प्रति जो संवेदना दूसरी भैंस ने दिखाई वह भी अनूठी है। (३) मातृवत स्नेह करने वाले चरवाहे शिष्य के सहलाने पर उसका हार्दिक भाव को जानकर दूध देना। (४) बछिया का जानवर के प्रति स्नेह (५) और समर्थजी द्वारा किया हुआ स्नेह का अनुसंधान।

ये सारी बातें कवि-कल्पना को भले ही स्वीकार न हों परन्तु *भारतीय मनोविज्ञान के अंतर्गत आती हैं। पुत्र-शोक से माता का बिलखना स्वाभाविक है। साथ-साथ माता की व्याकुलता का परिणाम दूसरी भैंस पर भी होना पड़ोसी धर्म के नाते धार्मिक रूप धारण करता है। परन्तु अपनी प्राकृतिक अवस्था और चरवाहे का स्नेह तथा मास्टकिम का प्रेम भी व कैसे भूल सकती हैं। जब* बाँझ भैंसें और गौएँ भी अतीव स्नेह के वश होकर दूध देती हैं तब ये घटनाएँ बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होती हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अगर कोई बात हो तो वह है समर्थजी का मनो वैज्ञानिक अनुसंधान जिसके कारण प्रकृति का स्वाभाविक दर्शन अनायास हो उठता है। और फिर उस दुर्घटना का निवारण भी होता है जिसके कारण भविष्य में अनेक दुर्घटनाएँ होने की सम्भावना थी।

*पाठकों को ज्ञात होगा कि आजकल यंत्र के सहारे से दूध* दुहा जाता है। पशु अधिक देर तक स्तनों में दूध नहीं रोक सकते और यंत्र से उनके थन में वैसी ही गुदगुदी उत्पन्न की जाती है जैसी बछड़े के स्पर्श से होती है। अब इन प्रयोगों से आजकल

दूध दुहा जाता है तब उस समय भी इन्हीं उपायों का पालन हुआ होगा। अत यह घटना शास्त्रीय दृष्टि से चमत्कार-युक्त नहीं बन सकती। लोग भले ही दैवी अथवा अनहोनी घटना के रूप में उसकी ओर देखें।

अनतर उस वनप्रदेश को समयजी ने धम और राज्य स्थापना के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध किया। यह एक चमत्कार बन सकता है परन्तु तपस्या और जनहित की लगन ही उसका मुख्य कारण है। दोहन की शक्ति और रूप को जब हम समझ लेंगे तब आज भी यह चमत्कार दिखाया जा सकता है।

## पोसना वे मारा

भ्रमण और भिक्षा समर्थ-जीवन के प्रमुख दो अभिन्न कर्मांग थे। इन कम क अगों से सामाजिक पुरुष की व्यथा को जानकर इलाज का अनुपान खोजा जाता था। इसलिए भ्रमण और भिक्षा का बधन प्रत्येक महत पर लागू था। साथ-साथ स्थानांतर के बधन का पालन भी अनिवार्य था। जिससे समाज-पुरुष के सारे अवयवों का निरीक्षण, अध्ययन और अनुपान व परिमाण की योजना हो सके।

एक बार समयजी एक कस्बे में पहुँचे। कस्बे की रचना बड़ी सुन्दर थी। पास में प्रशस्त नदी का प्रवाह, पेड़ों की घनी छाया, कस्बे के बाहर हनुमानजी का मदिर। निसग की प्रसन्नता की छाप कस्बे की स्वस्थता पर पूण रूप स दिखाई देती थी। कस्बे के इस रूप को देखकर समयजी बड़ प्रसन्न हुए।

नहा-धो लेन के बाद हनुमानजी के मदिर में ब्रह्मकर्म समाप्त

किया और दो हजार दंड लगाने पर भिक्षा के लिए वे कस्बे में चले गए। एक शानदार कोठी को देख मुख्य द्वार से होते हुए आँगन तक पहुँचे। भिक्षा के अवसर पर वे अपने रचे हुए 'मनोबोध' के अभंग गाते थे जिसे सुन नास्तिक मनुष्य भी आकर्षित हो जाता था। एक अभंग को पूर्ण कर समर्थजी ने ग्यारह अक्षरों वाले गुरु-मंत्र को दोहराया पर भर से न कुछ आवाज आई और न किसी ने आकर भिक्षा दी। तब समर्थजी ने दूसरा अभंग शुरू किया। जैसे ही वह पूर्ण हुआ वैसे ही एक स्त्री सम्मुख खड़ी हो चिल्लाती हुई बोली—

*'सुनते नहीं हो? लाख बार कहा कि मैं काम में लगी हूँ। पर पुनः वही जय-जय रघुवीर समर्थ की रट। क्या बहरे हो?'*

यह कहकर उसने पोतने को दे मारा। समर्थजी शांत भाव से लौटे।

दो दिनों के अंदर-अंदर समर्थजी की घोर दिनचर्या, तपस्या से प्राप्त भव्य तेज और कीर्तन की दिव्य वाणी को सुन सारा कस्बा प्रभावित हुआ।

उस स्त्री ने भी अपने स्वभाव के अनुसार एक साधु की किस प्रकार मरम्मत की है यह घटना बढ़ा चढ़ाकर अपनी सहेलियों से पहले ही कह सुनाई थी। धीरे-धीरे यह समाचार सारे गाँव की स्त्रियों तक पहुँचा। कुछ पुरुषों ने भी इसे जान लिया। तब पुरुषों को बड़ा खेद हुआ। सब पुरुष उस स्त्री की अवहेलना करने लगे। अंत में समर्थजी की सामर्थ्य को परख व क्षमा-याचना करने के लिए समर्थजी की सेवा में उपस्थित हुए। उनकी बात सुनकर समर्थजी शांत एवं गम्भीर होकर बोले—

"भाइयो मनुष्यों के द्वारा जो भी कर्म होते हैं वे संचित भावनाओं के आधार पर ही होते हैं। यदि संचित भावनाएँ दूषित हों तो उन दोषों का परिहार करने के लिए सत्कर्मों का आश्रय लेना चाहिए, जिससे भावी जीवन सुखी बनता है। यदि उनका परिहार न हुआ तो मनुष्य की दुष्कीर्ति बढ़ती है और वह दुःख भोगता है। फिर चाहे वह धन-सपन्न ही क्यों न हो। अतः गर्व न कर सत् का आश्रय लेना ही मनुष्य-जीवन के लिए हितकर है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

गीता ६–४३

समर्थजी के इस भाषण से लोग प्रभावित हुए। उनमें वह स्त्री भी थी। तुरन्त समर्थजी के चरण छू क्षमा-याचना करने लगी। समर्थ बोले—

"बहनजी, तुम किसी अवस्था में दोषभाजन नहीं हो। क्योंकि तुमने मुझसे कहा था। सुन न पाने के कारण मैं ही भजन गाता रहा। और फिर तुमने जो पोतना मुझे समर्पित किया वह मेरे बहुत काम आया। भिक्षा माँगकर प्रभु रामचन्द्रजी को नैवेद्य तो मैं चढ़ा सकता हूँ। पर आरती उतारने के लिए बाती की हमेशा कमी रहती है। तुम्हारे इस पोतने को धो धाकर मैंने साफ किया और उसके धागों से मैं बातियाँ बना सका।'

समर्थजी का यह निवेदन धर्म रक्षा की चेतना का भर सका। वह सारा गाँव समर्थजी की साधना में भरसक योग दे सका।

आत्म-संवेदना के इस चमत्कार को वही जान सकता है जो धर्म, समाज और राज्य संगठन के मूल मन्त्र को जानता है।

## अज्ञान का सुख

महादेवी के मतानुसार दुःख को सुख मानने के लिए विशाल मन की आवश्यकता होती है और वह विशाल मन महान प्रयत्नों के बाद बनता है। फिर भी मन की दुविधा दूर नहीं होती। हम भले ही यह मानें की दुविधा दूर हुई। और दुःख को ही हम सुख मानते हैं। पर मानव-जीवन के लिए यह दुर्बोध है। मात्र इसके विपरीत अज्ञान का सुख प्रत्येक मनुष्य पाता है। क्योंकि आघात प्रत्याघातों के परिताप से वह अबोध होता है। होनहार नहीं टाला जा सकता—किस्मत में जो लिखा है वह होकर ही रहेगा—यह उसकी अटल धारणा होती है। इसलिए वह अपने-आप सुखी बन जाता है।

समर्थजी के शिष्यों में भोलाराम नामी एक सचमुच भोला भाला शिष्य था। बेसमझ तो था ही, सुस्त भी काफी था। दिन में भी घण्टों सोता था। इन सारे दुर्गुणों के बावजूद भी ठरों खाता था और फिर किसी काम का नहीं था। उससे कहा कुछ जाता था वह सुनता कुछ था। अन्त में लाचार होकर जब समर्थजी औरंगाबाद पधारे तब उसके पिताजी ने उसे समर्थजी को सौंप दिया।

नरसम छोटे बड़े, बूढ़े बीमार अपाहिज
सब पाए सहवास में उद्धार पाए संतों से।

संतों की इस नीति के अनुसार समर्थजी ने बड़े प्रेम से उसे आश्रय दिया। इतना ही नहीं किसी के द्वारा उसका अनादर भी न होने दिया। सत्सहवास और प्रेम पाकर उसकी समझदारी बढ़ने लगी। ज्यों वह समर्थजी की सेवा करता रहा।

भूमि का बिछौना सुषुप्ति के लिए,
सिरहाना लेकर रामनाम का।

छोड़ना विलासों का छोड़कर,
याद का मुसकाना प्रीत के समय ।।

आजीवन इसी अवस्था में रहने के कारण बुढ़ापे में समर्थजी खाँसी के मारे बीमार रहने लगे। फिर भी दैनिक कामकाज में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता था। मात्र खाँसी बढ़ने पर थूकने के लिए वे पीकदान का उपयोग करने लगे। इस अवस्था में एकनिष्ठा से सेवा करने वाला भोलाराम ही ऐसा शिष्य था कि जो किसी काम को रत्तीभर भी टालने की कल्पना तक न कर सकता था।



मबाल का सुख

पहली ही बार पीकदान के कफ़ को बाहर फेंक देने की उसे आज्ञा देते हुए समर्थजी ने कहा, देखो, ऐसे स्थान पर यह फेंकदो जहाँ कहीं आदमी न हो। परन्तु जल्दी लौटो।

जब भोलाराम पीकदान को बाहर ले गया तब इधर-उधर सर्वत्र आदमी ही आदमी उसने देखे। जल्दी लौटने की चिंता में पीकदान का कफ़ उसने अपने पेट में ही डाल लिया। पर मठ को लौटते ही मतली सी होने लगी। बेचारा किसी से कह भी नहीं पाया। अंत में जब कै हुई तब उसने अपने गुरुबंधु से उक्त घटना सुनाई। जब यह समाचार समर्थजी को ज्ञात हुआ तब उन्होंने उसे बुलाया। बेचारा भीत अंतःकरण से उपस्थित हो गरदन झुकाए खड़ा रहा। समर्थजी ने धीरज बँधाते हुए कहा 'बेटा, यह सही है कि मैंने तुम्हें जल्दी लौटने को कहा था। परन्तु इसका मतलब यह नहीं था कि कफ़ को निगल जाओ। खैर! प्रभु रामचन्द्रजी की कृपा से तुम स्वस्थ हो जाओगे।' यह कहकर समर्थजी ने उसके सिर पर अपना वरदहस्त रखा।

पीकदान का भरा हुआ दोषयुक्त कफ भोलाराम हजम कर गया। यही कारण है कि भोलाराम आगे चलकर एक विद्वान महंत बना।

पाठक यह समझ चुके होंगे कि समर्थजी के वरदहस्त से ही भोलाराम कफ़ को हजम नहीं कर सका अपितु उसकी अपनी शक्ति ने भी साथ दिया। यदि भोलाराम की अपेक्षा कोई दूसरा शिष्य उसे निगलने का साहस करता तो वह निश्चय ही मर जाता। क्योंकि वह कफ़ क्षयरोग का था।

अज्ञान में मनुष्य हमेशा स्वस्थ रहता है। अज्ञान के कारण

ानि की समावना लिखे-पढ़ों की दृष्टि से भले ही हो पर अज्ञानी ो पाता है वह लाभ ही लाभ या सुख ही सुख होता है। क्योंकि ुख से वह विंतित नहीं होता। यदि भोलाराम अज्ञानी न होता ो क्या महत बनता ?

## रागी विरागी

दक्षिण हैदराबाद राज्य के एक जागीरदार समर्थजी के प्रिय शिष्य थे। वे महान विरागी और उच्चकोटि के ज्ञानी थे। जागीर दार होने के कारण वे हमेशा ठाटबाट से रहते थे।

सयोगवश एक बार भ्रमण के अवसर पर वे समर्थजी से मिले। उनका बाना और नौकर-चाकरों को देखकर समर्थ शिष्य मन ही मन सोचने लगे 'रंगनाथ स्वामी अपने को भले ही विरागी कहें पर हैं तो रागी।'

समर्थजी ने शिष्यों के भाव ताड़ लिए और उन्होंने रगनाथ स्वामीजी से कहा, 'पंडितजी, अब आप विरागी बनकर रहना सीखें। लाइए अपनी वह मूल्यवान पोशाक और पहन लीजिए केवल लंगोटी।'

रगनाथ स्वामी ने बहुत अच्छा' कहकर सारे आभूषण और जरीन वस्त्र उतार कर स्वामीजी के स्वाधीन किए और लंगोटी लगाकर बैठ गए।

उनकी पोशाक और जेवरों को अपने पास रख समर्थजी भिक्षा मांगने के लिए पड़ोस के गाँव में पहुँचे। लौटने पर उन्होंने देखा रंगनाथ स्वामी पहले से भी मूल्यवान वस्त्रों एवं आभूषणों से सज धज कर बैठे हैं।

समर्थजी ने कारण पूछा तो रंगनाथ स्वामी के एक शिष्य सरदार ने कहा 'महात्मन, हम यहाँ से गुजर रहे थे। भगवान की कृपा से गुरुदेव के दर्शन हुए। हमारे रहते इनका इस अवस्था में रहना हमारे लिए शोभा की बात नहीं है। गुरुदेव ने बहुत-कुछ इनकार किया लेकिन आग्रहपूर्वक यह पोशाक हमने पहना दी। ये आभूषण भी। भला इस संसार में हमारा अपना क्या है! जो कुछ है वह गुरुदेव की कृपा है।'

रंगनाथ स्वामी ने कहा मैं भले ही बढ़िया वस्त्र पहनता हूँ पर मुझे बढ़िया वस्त्र प्यारे नहीं लगते। और फिर क्या मूल्यवान और क्या मामूली! दोनों की अवस्था शरीर के लिए समान है। यदि इस प्रकार भगवान आशीर्वाद के ही ठाठ में रखना चाहते हों तो इनकार करने वाले हम कौन होते हैं? हाँ यदि हम किसी प्रकार भगवान के विरुद्ध शिकायत करें तो निश्चय ही गुनहगार सिद्ध होंगे। इसके अतिरिक्त मनुष्य मन से विरागी होना चाहिए। मन अगर रागी हो तो ऊपरी विराग उसके लिए कोई काम न देगा। अगर मन विरागी हो तो क्या राज्यपद और क्या सेवकाई दोनों उसके लिए बराबर होते हैं। असल में मन विरागी होना चाहिए। वैराग्य की देन बाहरी देन नहीं है। बाहरी देन से मनुष्य के विराग की परीक्षा असंभव है।

'आपसे मुझे कुछ कहना नहीं है। क्योंकि आप सबसाक्षी हैं और फिर मेरे परम देवता गुरु। आज्ञा के अनुसार वस्तुस्थिति को स्पष्ट किया है। सो क्षमा।'

रंगनाथ स्वामी का यह भाषण सुनकर समर्थजी के शिष्य मन ही मन लज्जित हुए। उनकी गरदनें अपने-आप झुक गईं।

अगर रंगनाथ स्वामी के शिष्य सरदार वस्तुस्थिति को न दर्शाते और यदि वहाँ न होते तो देखने वाले यही कहते कि यह एक चमत्कार है। क्योंकि जो मनुष्य केवल लंगोटी पहन जंगल में रहता है वह बढ़िया वस्त्र व आभूषण किस प्रकार पा सकता है। इस घटना में असली चमत्कार है जीवन विषयक शिक्षा जो आजकल शब्द या प्रदर्शन मात्र से दी जाती है। यदि समर्थ जी मानसिक शंकाओं को ताड़कर दूसरों के द्वारा उन्हें दूर न कराते तो विरागी होकर भी शिष्य रागी रह जाते।

## परीक्षा का अजीब ढंग

राजाश्रय और समाजाश्रय प्राप्त होने के बाद समर्थजी के पास अनेक शिष्य इकट्ठा होने लगे। समर्थजी का शिष्य बनने पर मान-सम्मान बढ़ता था और खाने-पीने में किसी बात की कमी नहीं रहती थी। समर्थजी आश्रय तो सबको देते थे और योग्यता के अनुसार उनसे काम भी लेते थे परन्तु जो केवल मोदक-बंधु बनकर रहना चाहते थे वे बहुत जल्द वहाँ से खिसकाए जाते थे।

एक अवसर पर अनेक शिष्यों का मेला देख समर्थजी ने एक नग्न तलवार उठाई और हर किसी पर मारने के लिए झपटने लगे। समर्थजी का क्रूर और तमतमाता चेहरा देख 'समर्थजी दीवाने हो गए' कहकर कुछ शिष्य वहाँ से चल दिए। कुछ डरपोक होने के कारण प्राणों को लिए खिसक गए। कुछ इधर-उधर छिप गए। मठ में केवल गिने-चुने शिष्य रह गए। उनमें से एक समर्थ शिष्य कल्याण स्वामी को यह समाचार सुनाने के लिए रवाना हुआ। खबर पाते ही कल्याण स्वामी घटनास्थल पर पहुँचे।

जब वे समर्थजी के पास गये तो उन पर भी तलवार तानकर समर्थजी बोले "मैं तुम्हें मार डालूंगा।" कल्याण स्वामी विनत हो



सत् शिष्य की परीक्षा

बोले "अवश्य, मैं मरने के लिए प्रस्तुत हूँ।" यह कहकर गरदन झुकाए खड़े रहे।

उसी क्षण समर्थजी ने अपनी तलवार म्यान में कर ली। सज्जनजी का मठ निकम्मे शिष्यों से मुक्त हुआ।

० ० ०

एक बार समर्थजी जोर-जोर से कराहने लगे। प्रत्येक शिष्य

बड़ी आत्मीयता के साथ पूछताछ करने लगा। समर्थजी बोले "बाबा, अब मैं बुढ़ापे के कारण अक्सर बीमार रहता हूँ। पीठ में एक बड़ा फोड़ा हुआ है। उससे होने वाली वेदनाओं से मैं त्रस्त हो गया हूँ।"

एक शिष्य बोला, "क्या मालिश कर दूँ ?'

दूसरा—"जरा सेंक दूँ ?"

तीसरा—"राजवैद्य को बुलाऊँ ?"

समर्थजी बोले, "ना बाबा, किसी उपचार की आवश्यकता नहीं है। यह शरीर भोग है और उसे भोगना ही चाहिए। अगर कोई इस फोड़े को चूस लेगा तो कदाचित मैं स्वस्थ हो सकता हूँ। पर चूसने वाला तुरत मर जाएगा।' यह कहकर समर्थजी पुनः कराहने लगे।

दिन रात कराहते देख सारे शिष्य चिंतित हुए। पर किसी में यह हिम्मत न हुई कि उस फोड़े को चूसे और समर्थजी के लिए अपने प्राणों को खोए। जब यह खबर समय कल्याण शिष्य ने जानी तो वह तुरंत समर्थजी की सेवा में उपस्थित हुआ और फोड़े को चूसने के लिए अनुज्ञा चाहने लगा। समर्थजी बोले "क्यों नाहक अपने प्राण गँवाते हो ? यदि मैं मर गया तो अब कुछ विशेष हानि होने की आशंका नहीं है क्योंकि मैंने जीवित काम किया है। और वह सफल भी हुआ है। धर्मसत्ता की स्थापना हो चुकी है। आततायियों को उचित दण्ड मिला है। स्वराज्य के कारण स्वधर्म की रक्षा में अब किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। महाराष्ट्र भवन आनन्द से परिपूर्ण है। अब मैं शरीर को क्यों कष्ट पहुँचाऊँ ?'

कल्याण स्वामी ने कहा, "नहीं महात्मन, मैंने अनुभव किया है कि यद्यपि स्वराज्य और स्वधर्म की स्थापना हुई है परन्तु उनकी रक्षा का प्रबंध अभी शेष है। जब तक वह प्रबंध नहीं होगा तब तक यह शरीर कैसे त्यागा जा सकता है ?"



कल्याण शिष्य ने समर्थ-पद पाया

समर्थजी ने कहा, "भाई, यह कार्य किसी एक व्यक्ति के जिम्मे सौंपने पर नहीं बन सकता। धर्म और राष्ट्र के प्रत्येक अभिमानी की सिद्धता पर यह कार्य अवलंबित है। जन-जागृति जितने प्रमाण में बनी रहेगी उतने प्रमाण में यह कार्य सफल होगा।'

कल्याण स्वामी बोले, "जन-जागृति के लिए तो आपको कुछ दिनों तक यह शरीर लिए रहना ही होगा।" यह कहकर वह जांघ का फोड़ा चूसने लगा। यद्यपि समर्थजी ने लाख मना किया,

कराया भी।

जब कल्याण स्वामी पूरा फोड़ा चूस चुके तब बोले, "महात्मन, इस प्रकार अगर रोजाना दस-पाँच फोड़े हो जाए तब तो मैं समझूँगा कि मेरे भाग खुल गए।' समर्थजी हँस दिए।

पाठक समझ चुके होंगे कि यह चमत्कार परीक्षा लेने और शिष्य को निजी कर्तव्यों के परिज्ञान की शिक्षा देने के लिए समर्थजी ने दिखाया था।



समर्थ गुरु एवं समर्थ शिष्य

फोड़े के स्थान पर लेबल के नीचे एक रस भरा

फंस रखा गया था।

कल्याण स्वामी समर्थ शिष्य की उपाधि के अधिकारी बने। वे आगे चलकर समर्थ शिष्य यानी शक्ति-संपन्न शिष्य सिद्ध हुए। अन्य शिष्यों ने भी बहुत कुछ पाया। वे इस तथ्य को जान सके कि व्यक्तिगत प्राणों की अपेक्षा स्वधर्म और स्वराष्ट्र के प्राणों की महत्ता अधिक है।

## स्पृश्य-अस्पृश्य मीमांसा

कर्नाटक की उडपी रियासत में मध्वाचार्य नामी एक सवसंग परित्यागी साधु रहते थे। समर्थजी के प्रताप की वार्ताएँ वे सुन चुके थे। वे उनसे मिलना चाहते थे। परन्तु परख लेने पर मिलना ठीक है, इस भावना से उन्होंने अपने सत् शिष्य को समर्थजी के पास भेजा। जब शिष्य महाराज समर्थजी से मिले तब समर्थजी को महान आनन्द हुआ। मध्वाचार्यजी के पत्र को ही मध्वाचार्य समझकर समर्थजी ने उसका हार्दिक वंदन किया। सत् शिष्य का यथोचित स्वागत कर उसे आग्रहपूर्वक आतिथ्य के हेतु रोक भी लिया। जब समर्थजी ने अक्काबाई से मीठा खाना पकाने के लिए कहा तब सत् शिष्य बोले, "हम तप्त मुद्रांकित ब्राह्मण हैं। छुआछूत के कड़े नियमों का पालन हमारे धम में एक विशेष स्थान रखता है। अतः किसी भी छूत वस्तु का खानपान हमारे लिए निषिद्ध माना जाता है। पक्की रसोई भी हमारे लिए न चल सकेगी।"

सत् शिष्य का यह निवेदन सुनकर समर्थजी ने दिवाकर गुसाईं द्वारा रसोई की सामग्री उन्हें दिखलाई। सत् शिष्य नहा

धोकर ब्रह्मकर्म से निवट चुकने पर रसोई में लग गये। जब खाना बन चुका तो जल स्नान के लिए वे बावडी की ओर चल दिये। लौटने पर उन्होंने देखा कि रसोईघर में घुसकर एक कुत्ता बड़े ठाठ के साथ रोटियाँ उड़ा रहा है। यह देखकर सत् शिष्य क्रोधित हुए और उन्होंने कुत्ते को मार भगाया। परन्तु भूख से परेशान होने के कारण पुन रसोई बनाना उनके लिए अशक्य था। इस-लिए किसी ने देख तो नहीं लिया है—यह परखकर उन्होंने मन्त्रा भिषिक्त जल से और तुलसीदल से अन्न का पवित्र बनाकर भोजन के लिए थाली परोस ली। सबके साथ भोजन पान के हेतु उन्हें समर्थजी न खाने वालों की पंक्ति में विराजित किया। इस बात का ध्यान अवश्य रखा कि छूत से वह बच जाए।

मध्वाचार्य के सत् शिष्य का सहवास प्राप्त होने के कारण समर्थजी बड़े प्रसन्न हुए थे। स्वय वे ही पंक्तियों को घी परोसते थे। गडबड़ी में वे यह भूल गए कि सत् शिष्य प्रमुख स्थान पर बैठे हैं और छूत को वे अधम मानते हैं। और फिर 'घी' अपवित्र था नहीं। सो समर्थजी सब को परोसते समय उन्हें भी परोस गए। बस ही घी परोसा गया वैसे सत् शिष्य चिढ़ गए और समर्थजी को गालियाँ देने लगे। जब गालियों की बौछार शुरू हुई तब समर्थजी ने घी का बरतन नीचे पटक दिया और जोर-जोर से रोने लगे। उनका रोना-धोना सुनकर सभी शिष्य घटनास्थल पर पहुँचे और उन्हें अपमान से आहत समझ संतोष दिलाने का प्रयास करने लगे।

समर्थजी बोले "भाइयो, इनके विरुद्ध मेरी कोई शिकायत नहीं है। मुझे शिकायत है प्रभु रामचन्द्रजी के बारे में। मैं सोचता हूँ कि कुत्तों से भी गया-बीता यह जीवन उसने मुझे क्यों दिया, किसी

अपवित्र वस्तु को तुलसीदल से हम पवित्र बना सकते हैं परन्तु मेरे द्वारा परोसा गया घी क्या किसी हालत में पवित्र नहीं हो सकता ?'



समर्थजी के कथन का उद्देश्य वह शिष्य ताड़ गया और वह समर्थजी से क्षमा-याचना करने लगा। तब समर्थजी ने बतलाया, "हम जो कुछ खाते हैं वह पेट भरने के लिए अथवा स्वादयुक्त है इसलिए नहीं अपितु यज्ञकर्म के रूप में खाते हैं। शरीर की क्रिया यथोचित हो इसलिए खाते हैं। उसमें छूत-अछूत की भावना नहीं होनी चाहिए। शरीर-धर्म को समझकर ही उससे सत्कर्म कराने के

उद्देश्य से हमें खानपान का ध्यान रखना चाहिए। इससे बढ़कर खानपान को अधिक महत्त्व न देना चाहिए। सत् प्रवृत्तियों को जगाने वाला—शरीर धर्म की रक्षा करने वाला खाना हो बस। फिर चाहे वह किसी के द्वारा क्यों न पकाया गया हो।

जब मध्वाचार्य ने सत्शिष्य के लौटने पर यह घटना जानी तब उन्हें विश्वास हुआ कि समर्थ रामदासजी सचमुच हनुमानजी के भक्त हैं और सच्चे साधु हैं। संयोग पाकर उन्होंने समर्थजी से साक्षात्कार कर अपने को धन्य किया।

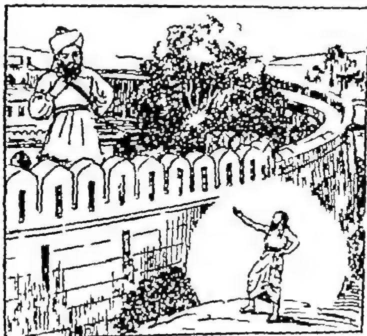


एक बार एक क्षत्रिय सत्शिष्य के यहाँ मांसाहार पा समर्थजी ने यह स्पष्ट किया कि सत् प्रवृत्तियाँ जाग जाने पर मनुष्य निषेध मुक्त बन जाता है। इस घटना से मध्वाचार्य विशेष प्रभावित हुए। फिर भी समर्थजी ने उन्हें बताया कि सत् प्रवृत्तियों की जागृत अवस्था का जानना सर्वसाधारण जनता के लिए अशक्य होता है, इसलिए वचनों का पालन होना चाहिए। मात्र शुद्ध अंतःकरण परख चुकने पर किसी प्रकार का परहेज रखना सर्वथा हानिकारक होता है।

## भगवान के दर्शन

एक बार चाफळ को लौटते समय रंगनाथ स्वामी के साथ समर्थजी टाकळी गाँव में रुके। नियमानुसार रंगनाथ स्वामी का कीर्तन वहाँ हुआ। टाकळी गाँव के मुसलमान भी रंगनाथ स्वामी के शिष्य थे। कीर्तन में रंगनाथ स्वामी ने कहा, "संतों के सहवास से भगवान के दर्शन होते हैं।"

टाकली गाँव में एक मुस्लिम धर्माभिमानी पठान रहता था। उसने रंगनाथ स्वामी के कीर्तन का समाचार जब सुना तब उन्हें बुलाकर कहा कि महाराज, अपने भगवान का दर्शन अगर आप करा सकें तो मैं आपका कहना मान सकता हूँ वरना आपको गौ का गोश्त खाना पड़ेगा। पठान का यह भाषण सुन रंगनाथ स्वामी कुछ घबराए। उन्होंने समर्थजी को बुलाकर इस संकट का परिचय करा दिया। समर्थजी उनका कहना सुन तुरत किले के बाहर चल



दिए। समर्थजी को बाहर आते देख रंगनाथ स्वामी उस पठान से कहने लगे 'देखिए साहब उस साधु के द्वारा आप भगवान का

ध्यान पा सकते हैं।" पठान किस दम बद ध्या और समर्थजी को पुकारने लगा। समर्थजी ने कहा भाप भगवान का दर्शन चाहते हैं न? आइए सीध माग से मेरे पीछे-पीछे हो लीजिए। परन्तु याद रखिए कि माग की सीध कहीं बिगड़ न जाए।

समर्थजी का यह भाषण सुन पठान ने यह अनुभव किया कि किले के ऊपर सीधे माग पर मैं क्योंकर चल सकता हूँ? किले को लाँघना असंभव है। तब उसने पूछा, "महाराज, यह कैसे मुमकिन है?" समर्थजी बोले, "सत्याचरण का मार्ग ही भगवान की ओर जाता है। सत्याचरण वाला अपने जीवन को कभी दीन हीन या दुखी नहीं पा सकता। निर्भय होकर जीवन से विरक्त बनने के बाद ही यह अवस्था आप पा सकेंगे। अर्थात् इस अवस्था को पाना हो तो किले की दीवारों का भय त्याग कर उन्हें लाँघने की अटूट क्षमता प्राप्त करो जिससे अनायास भगवान के दर्शन आप पा सकेंगे। यानी आत्मरूप बन सकेंगे।'

समर्थजी का यथार्थ कहना सुनकर वह पठान समर्थजी का अनुग्रहित शिष्य हो गया।

## मनौती और सपना

कोंकण प्रांत में समर्थजी दौरे पर थे। एक छोटे से गाँव में पहुँचकर उन्होंने देखा कि धर्म प्रचार के लिए यह स्थान बहुत उचित है। क्योंकि इस गाँव के आजूबाजू में पर्वतीय प्रदेश था और उस प्रदेश में अनेक छोटी-छोटी आबादियाँ थीं। जिस गाँव में वे रुके थे वह छोटा क्यों न हो परन्तु पर्वतीय शोभा से सुशोभित था। दिन भर वहाँ रहने पर समर्थजी ने यह जाना कि यहाँ के

लोग भी बड़े श्रद्धालु और भावुक हैं। कीर्तन में बड़े परिमाण में वे उपस्थित हुए हैं। परन्तु तीन चार दिन के पश्चात् उन्होंने देखा कि कीर्तन में एक भी आदमी सम्मिलित नहीं हुआ। फिर भी समर्थजी अपने शिष्यों के साथ कीर्तन में रंग जाते और धर्म प्रचार का कार्य आजूबाजू में करते।

कुछ दिनों बाद समर्थजी को इस बात का पता चला कि उस गाँव में एक हिन्दू पटेल रहता है और उसने वहाँ के निवासियों को कीर्तन में सम्मिलित होने के लिए मना किया है। यहाँ तक कि अपनी धौंस से उसने उनसे यह भी कबूल करवा लिया है कि जो कीर्तन में सम्मिलित होगा उसे यह गाँव छोड़कर जाना पड़ेगा या पटेल के द्वारा निर्धारित दण्ड देना पड़ेगा। यद्यपि गाँव के सभी लोग समर्थजी को चाहते थे परन्तु लाचार होकर उनके कीर्तन से उन्हें वंचित रहना पड़ता था। फिर भी समर्थजी धर्म प्रचार का अपना नियमित कार्य उस गाँव में रहकर करने लगे।

एक दिन सुबह-सुबह समर्थजी ने मुरगे के चिल्लाने की आवाज सुनी। बस समर्थजी उस मुरगे के पास पहुँचे और उन्होंने देखा कि मुरगे को काटने के लिए ले जाया जा रहा है तब उन्होंने उस आदमी को रोका जो ले जा रहा था। सहसा उस आदमी के पीछे उस गाँव का पटेल आ निकला और समर्थजी से कहने लगा "क्यों महाराज, धर्म कार्य में बाधा डालते हो? मेरे एक सुपुत्र है। वह बीमार हुआ था। मैंने काली माता से मनौती मानी कि अगर मेरा बालक बीमारी से मुक्त हुआ तो मैं मुरगे का नैवेद्य चढ़ाऊँगा। काली माता की कृपा से बालक चंगा हो गया। लेकिन तीन महीने तक मुरगे का नैवेद्य मैं चढ़ा न पाया। कल रात को मैंने सपना देखा। काली

माता ने मुझसे कहा कि मैंने अपना काम किया है अब तुम अपने वचन का पालन करो। मैं भूल गया था। इसीलिए आज मुरगे को खरीदकर मैं आ रहा हूँ। अब इसे काटकर धर्मविधि के अनु-सार इसका नैवेद्य चढ़ाऊँगा।

पटेल का यह भाषण सुनकर समयजी ने पटेल और उसके साथी की गरदनों को पकड़ जोरों से खींचा और कहा, "मैंने भी कल रात एक सपना देखा है। ग्रामदेवता ने मुझसे कहा कि



मैंने भी एक सपना देखा है

दो मुस्टण्ड आदमियों की बलि मेरे चरणों में चढ़ाओ। बड़ा अच्छा

हुआ। सुबह-सुबह तुम मिल गए। वरना मुझे मुस्टण्डे आदमियों को ढूँढ़ना पड़ता। चलो ग्रामदेवता के आदेशानुसार यम-विधि युक्त तुम्हारी बलि उन्हें चढ़ाऊँ।"

यह कहकर समर्थजी उन्हें पकड़ जोरों से घसीटने लगे। समर्थजी शक्ति-सम्पन्न थे। उनकी पकड़ को पटेल जरा भी ढील न दे सका। लाचार होकर वह उनकी शरण में आया और प्राणदान की भिक्षा माँगने लगा। पटेल को असहाय बना समर्थजी बोले—

"भाई, भगवान कदापि यह नहीं चाहते हैं कि उनके कारण किसी के प्राणों की बलि चढ़ाई जाए। और मनौती मानना अपने देखना यह सब कुछ भावनाओं की लीलाएं हैं। जिस प्रकार हमें अपने प्राण प्रिय होते हैं उसी प्रकार पशु-पक्षियों को और जान वरों को भी अपने-अपने प्राण प्रिय होते हैं। भगवान सर्वव्यापी और सर्वसाक्षी हैं। हमने ही अपनी-अपनी निजी वृत्ति के अनुसार धर्म का विधान निर्धारित किया है। हमारा यह विधान सर्वथा स्वार्थी है और असत्य की नींव पर खड़ा है। सो सभी प्राणियों को भगवान समझ उनकी अर्चना करनी चाहिए।"

समर्थजी का उपदेश सुन पटेल का भ्रम दूर हुआ और वह समर्थजी का भक्त बना। जिसके कारण वह गाँव धर्म प्रचार का प्रमुख केन्द्र बन सका। धर्म प्रचार के निमित्त समर्थजी ने जो यह प्रयोग किया वह धर्मग्राह्य है—ऐसा साथ समझने लगे। क्योंकि पटेल की दुष्टता से सारा गाँव ऊब गया था। समर्थजी के दण्ड देने पर ही वह सन्मार्ग पर आ सका जिससे उस गाँव के लोग धर्म प्रबलता की अपनी स्वाभाविक इच्छा को पूर्ण कर सकें।

## कल्याण ने सामर्थ्य कैसे पाई

पाराजी पंत नामी एक ब्राह्मण कोल्हापुर में रहते थे। उनके आश्रय में एक अनाथ परिवार रहता था। पाराजी पंत उस परिवार का भरण-पोषण वत्सलता से करते थे। उस परिवार में अंबाजी नाम का एक बालक था। वह बड़ा सुम और आज्ञाकारी था। समर्थजी ने उसके गुणों को ताड़कर उसे धर्म-काम के लिए मांग लिया। यथाविधि दीक्षा देकर समर्थजी ने उसे अपना शिष्य बनाया। अंबाजी भी आज्ञा के अनुसार धर्म-काम में लग शक्ति पाता रहा।

एक बार चाफळ में दास नवमी के अवसर पर प्रभु रामचन्द्र-जी के रथ का जुलूस निकला। रास्ते के बीच एक पेड़ था जिसकी एक शाखा रास्ता रोके खड़ी थी। शाखा के कारण रथ को उस रास्ते से ले जाना असंभव था। इसलिए समर्थजी ने उसको काटने का आदेश दिया। अनेकों शिष्य शाखा काटने के लिए आगे बढ़े। पर समर्थजी ने कहा कि शाखा को नीचे की ओर से काटना होगा। नीचे की ओर से काटने पर शाखा के साथ बावड़ी में गिरने की संभावना थी। अतः कोई शिष्य अपने प्राण संकट में डालने के लिए तयार न हुआ। केवल अंबाजी आगे बढ़ा और आज्ञा के अनुसार उसने शाखा काटी। कुल्हाड़ी के अंतिम आघात के साथ-साथ अंबाजी और वह शाखा, नीचे बावड़ी में गिर पड़े। लोगों को विश्वास हुआ कि अंबाजी अब बच नहीं सकता। लोग समर्थजी को कोसने लगे।

सहसा समर्थजी ने बावड़ी के अंदर झांका और अंबाजी को पुकार कर कहा, "भाई, वहां क्या कर रहे हो? जल्दी से ऊपर

आओ। जुलूस रुका पड़ा है।" समर्थजी का आदेश सुनकर अंबाजी बाहर आया, तब कहीं लोगों की जान में जान आई। समर्थजी ने उसी क्षण से उसे कल्याण कहना शुरू किया।



इस प्रकार अंबाजी अर्थात् कल्याण ने अनेक बार परीक्षाओं में सफलता पाई। तब कहीं वे समर्थ शिष्य इस पद को प्राप्त कर सके।

एक बार चाफळ के रामनवमी उत्सव में हाथी पर प्रभु रामचन्द्रजी की पादुकाओं का जुलूस निकाला गया। बाजे-गाजे का शोर

सुन मत्त हाथी बौखला उठा। वह जुलूस में मनमाना दौड़ने लगा। लोग घबड़ाए। मत्त हाथी की उद्दामता को देख समर्थजी ने उसको पकड़ने की आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही कल्याण स्वामी ने आव देखा न ताव एक हाथ से हाथी का दाँत पकड़ वे उसकी गरदन और



सूंड पर प्रहार करने लगे। लहमे के अन्दर-अन्दर हाथी की सारी उन्मत्तता गायब हो गई और जुलूस यथास्थान यथासमय पहुँच गया।

कल्याण की सामर्थ्य देखकर समर्थजी ने कल्याण को 'समर्थ शिष्य' इस पद से विभूषित किया। कल्याण स्वामी चरित–

धर्म-सपन्न, बुद्धि-सपन्न तर्क-सपन्न और आज्ञाकारी शिष्य थे। समर्थ-सम्प्रदाय के वे प्रमुख चालक और समर्थ-शिष्यों के प्रमुख अगुआ थे। आज भी समर्थ-शिष्य कल्याण स्वामी का मठ डोम गाँव तालुका बार्शी जिला सोलापुर में मौजूद है। कल्याण स्वामी, समर्थजी और प्रभु रामचन्द्रजी के उत्सव बड़ी धूमधाम से वहाँ आज भी मनाए जाते हैं।

## गुरु-सेवा ही भगवान की सेवा है

समर्थ-शिष्य कल्याण स्वामी की यह प्रामाणिक धारणा थी कि गुरु-सेवा ही भगवान की सेवा है। इसी धारणा के अनुसार वे



काया, वाचा और मन से समर्थजी की सेवा करते थे। एक बार जब समर्थजी सज्जनगढ़ में बीमार हुए तब शिवाजी के राजवैद्य ने यह सलाह दी कि गढ़ की बावड़ी के बजाए नीचे खाई में जो बावड़ी है उसका पानी पिया कीजिए। वह स्वास्थ्य के लिए बड़ा लाभकारी है। उस बावड़ी का प्रतिदिन पानी ले आना कोई हँसी-मजाक की बात नहीं थी। क्योंकि उन दिनों पगडंडी भी उस स्थान के लिए बन न पाई थी। दो मील खाई में उतरना और दीवार जैसी खड़ी पहाड़ी पर चढ़ना असम्भव था। फिर भी समर्थ शिष्य कल्याण स्वामी क्रमशः बारह महीने पानी लाते रहे। एक बार पानी लाते समय शिवाजी राजा ने जब उन्हें देखा तब वे आश्चर्य चकित हुए। तब उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि स्वराज्य की नींव इन्हीं धर्माभिमानियों के बल पर रखी गई है और सैनिकों के द्वारा उसकी रक्षा की जाती है।

## शक्ति और उसका सदुपयोग

समर्थजी के सहवास में सज्जनगढ़ में रहते समय शिवाजी राजा के एक भक्त ने शिवाजी को एक तगड़ा घोड़ा भेंट में समर्पित किया। सजे हुए घोड़े को सौंपते समय वह भक्त बोला, 'महाराज इस पर अभी तक किसी ने सवारी नहीं की है अत् साईस के द्वारा पहले इसे अभ्यस्त बनाया जाए और उसके बाद आप स्वयं इसका उपयोग करें।

जब समर्थजी ने उस घोड़े को देखा तब वे कहने लगे "वाह! घोड़ा बड़ा ही तेज और तगड़ा दिखाई देता है। परन्तु इसे जगह जगह पर जकड़ा क्यों गया है?" यह कहकर समर्थजी

साज उतार कर फेंक दिया और उसके बालों को पकड़ के उस पर सवार हुए।



समर्थजी जैसे ही घोड़े पर सवार हुए वह वायुवेग से दौड़ने लगा। न बड़ी-बड़ी शिलाओं की वह परवाह करता था न पहाड़ियों की और न चट्टानों की। जब शिवाजी और अन्य शिष्यों ने घोड़े की तेज रफ्तार को देखा तब उन्हें भय हुआ कि हो न हो घोड़ा अब समर्थजी को अवश्य ही पटक देगा। समर्थजी अगर सावधानी न बरतेंगे तो शायद गिर ।

समर्थजी के पीछे अनेक घुड़सवार दौड़ाए गए परन्तु वे सब

सब दौड़ में पराजित होकर लौट आए। कुछ घंटों में थका-मांदा वह घोड़ा समर्थजी लौटा लाए। साईस भी जिस घोड़े पर सवार होने से भय खाता था उस घोड़े को समर्थजी ने बात की बात में अपने वश में कर लिया।

इस घटना से शिवाजी ताड़ गए कि राज्य-साधना में जो सैनिक अपना कौशल दिखाते हैं वे समर्थजी के कारण ही सधे हुए हैं। यहां तक कि जो गुप्त कार्य सफल बनते हैं वे ऐसे ही गुण और शक्ति-संपन्न धर्मप्रेमी शिष्यों के द्वारा सफल बनते होंगे।

## गुप्त सेवक समर्थजी

मैसूर के वन प्रदेश में रहते समय समर्थजी संगम में नहाते थे और पवासी गांव में कोरान्न भिक्षा मांगते थे। उस गांव में पटवारी (कुलकर्णी) का एक परिवार रहता था। जब समर्थजी उसके आंगन में 'जय जय रघुवीर समर्थ' कह कर प्रथम बार पहुंचे तब उस घर की लक्ष्मी से उन्हें लताड़ खानी पड़ी। तब समर्थजी ने यह जाना कि यह परिवार कुछ दुःखी है। उस दुःख को जानने के हेतु भिक्षा न पाने पर भी समर्थजी नियमानुसार जाते रहे। जब गृहलक्ष्मी ने यह देखा कि यह साधू कुछ निराला है तब उसने आत्मभाव से अपने दुःख की कथा उन्हें सुनाई। उसने कहा, "समय पर वर्षासन वसूल करके न देने के कारण मेरे पति को कैद कर बीजापुर के दरबार में ले गए हैं। अब उनका छूटना असम्भव है।

समर्थजी ने तुरंत जवाब दिया कि समझ लो ग्यारह दिनों के अंदर-अंदर वे घर पर मिलेंगे।

एक गुसाईं के आश्वासन पर यह माता स्वस्थ कैसे बन सकती थी। परन्तु एक गुसाईं नियमानुसार रोज आँगन में आवाज लगा जाता था।

वचन के अनुसार भेष बदलकर समर्थजी सामड़तोड़ कन्हाड़ गाँव की वर्षासन की रकम से बीजापुर के दरबार में पहुँचे और



अपने को पटवारी का कारिंदा कह कर वासोपंत नाम बताया तथा रकम अदा करके पटवारी को छुड़ा लिया। यहाँ तक कि पटवारी को कन्हाड़ गाँव तक पहुँचा कर केवल यही संदेश दिया कि माता जी के द्वारा किसी गुसाईं का अनादर न होने पाए। जब वह पट

वारी ठीक ग्यारहवें दिन घर पहुँचा तब उसने धर्मपत्नी से पूछ-ताछ की। परन्तु उसने केवल इतना ही बतलाया कि एक गुसाईं के आश्वासन देने पर कदाचित आपको मुक्ति मिली होगी। मुझे मुक्त कराने वाला 'रामदास' ही गुसाईं हो सकता है यह कल्पना कर वह पटवारी उन्हें ढूंढने लगा। पर समर्थजी कब के चल दिए थे।

मुस्लिम शासन से सकारण या अकारण पीड़ित अनेक परि-वारों को सहायता पहुँचाने के कारण वे सारे के सारे परिवार समर्थ-सम्प्रदाय के कट्टर अनुयायी बने और धर्म-साधना में उन्होंने भरसक हाथ बँटाया।

अपने पति को सकुशल लौटते हुए देख गृहमाता को महान् आनन्द हुआ। अब उसने यह निश्चय किया कि उस गुसाईं का दर्शन किए बिना मैं अन्न ग्रहण न करूँगी। समर्थजी से साक्षात्कार कर अपने जीवन को सफल बनाने के हेतु कई दिन भूखी प्यासी वह वन प्रदेशों में घूमती रही। जब एक गुहा में समर्थजी के दर्शन पा वह कृतार्थ बनी तभी उसे सन्तोष हुआ। यही गृह-माता भविष्य में समर्थ-शिष्या सिद्ध हुई और राज्य-साधना के दुर्धर काम को निभा सकी।

## संगीत-सभा में गर्व-परिहार

कर्नाटक प्रांत का एक संगीत विशारद शिवाजी राजा के दर-बार में इसलिए उपस्थित हुआ कि सब संगीत-विशारदों को परा-जित कर विजय-पत्र प्राप्त करे। वह गवया शास्त्रीय संगीत में निपुण था और उसने अनेक प्रांतों के गवैयों को पराजित था। जब वह शिवाजी के दरबार में पहुँचा तब स्वयं

उनके दरबारी काम में व्यस्त थे। इसलिए शिवाजी राजा ने उस गवैये से यह कहा कि आप सज्जनगढ़ में समर्थजी के पास जाइए। उन्होंने अगर आपकी कला को श्रेष्ठ स्वीकार किया तो विजय पत्र आपको दिया जाएगा।

राजा की इस आज्ञा को सुन वह गवैया बहुत खुश हुआ। वह विश्वास करने लगा कि बात-बात में साधुजनों पर मैं विजय पाऊँगा। क्योंकि साधु-मण्डली शास्त्रीय संगीत को किस प्रकार जान सकती है ?

जब वह सज्जनगढ़ पहुँचा तब समर्थजी ने उसकी यथोचित आवभगत की। दैनिक कार्यक्रम से निवृत्त हो चुकने पर समर्थजी ने सब शिष्यों को सभा-मण्डप में उपस्थित होने का आदेश दिया। रात को दस बजे संगीत-सभा प्रारम्भ हुई। समर्थजी ने कर्नाटक के शास्त्री से यह प्रार्थना की कि वे अपना संगीत शुरू करें। शास्त्री बुवा ने फरमाया, 'हम शास्त्रीय संगीत के विशेषज्ञ हैं। शास्त्रीय नियम के अनुसार संगीत-सभा को कोई दूसरा गवैया प्रारम्भ करे।'

यद्यपि समर्थजी ने यह समझाया कि हमारे यहाँ कोई शास्त्रीय संगीत नहीं जानता है सो आप ही प्रारम्भ करें पर गवैये ने नहीं माना। अनुनय विनय करके भी समर्थजी हार गए। इसी बीच शिवाजी राजा भी सभा में उपस्थित हुए। अंत में लाचार होकर समर्थजी ने समर्थ शिष्य कल्याण स्वामी को अपना संगीत सुनाने की आज्ञा दी। कल्याण स्वामी ने तंबूरा सम्हाला और पद्म में भजन गाया। पद्म की प्रत्येक तान जब अपनी लहर से शब्दों एवं भावों के मोतियों को बिखेरती तब सारी संगीत-सभा मंत्र मुग्ध बन जाती। कल्याण स्वामी के बाद समर्थजी ने वेणुबाई म

गाने के लिए कहा। वेणूबाई ने पंचकल्याण जोगी कालिंगड़ा आदि रागों में ३ ४ भजन गाए।



कर्नाटकी गवये ने अनुभव किया कि ताल और स्वर के मेल से जो भाव स्पष्ट हो रहे हैं वे शब्द रूप बनकर अपनी अपूर्वता के कारण दर्शकों के हृदय से अनायास बह उठते हैं। हार्दिक भावों को मूर्त करने में इस संगीत की बराबरी शास्त्रीय संगीत नहीं कर सकता। वेणूबाई का भजन समाप्त होने के बाद समर्थजी ने शास्त्री बुआ से अपना शास्त्रीय संगीत सुनाने के लिए प्रार्थना की। पर शास्त्री बुआ के कान अभी तक उन्हीं भजनों के चित्रों में लीन अपने-आप को भूल गए थे। जब वे तंद्रा से जागे तब समर्थजी के चरणों में लिपट अपनी पराजय को मुक्तकंठ से स्वीकार करने लगे। कर्नाटक के शास्त्रीय गवैये द्वारा इस प्रकार अपनी

पराजय मान लेने के बाद समर्थजी बोले—

"इसमें कोई शक नहीं है कि आप शास्त्रीय संगीत के विशेषज्ञ हैं। परन्तु याद रखिए संगीत कला को कला के पद से घसीट कर शास्त्रीय सिंहासन पर आरूढ़ करने के कारण उसकी कला रमकता जाती रही है। शास्त्र और कला में महान अन्तर है। शास्त्र में नियमों का आधिपत्य होता है और कला स्वयमेव तथा सकमगल्दायिनी होती है। शास्त्र की अपेक्षा कला को भारतीय सभ्यता श्रेष्ठ मानती है। कला अपने-आप में लीन होकर दूसरे में भी लीन होने की क्षमता रखती है शास्त्र में ये भाव नहीं होते। कला से अद्वैत भाव जागते हैं और शास्त्र से द्वैत भाव का निर्माण होता है। अतः शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा कलात्मक ज्ञान श्रेष्ठ है। इसलिए आप भी कलात्मक संगीत की उपासना कीजिए। जिससे अपने जीवन के साथ-साथ दूसरों के जीवन को भी संगीतमय बनाकर जीवन के अनूठे आनन्द को आप पा सकेंगे और जीवन को रुचिकर बना सकेंगे।'

संगीतशास्त्र-विषयक समर्थजी की इस भूमिका को सुन कर्नाटकी गवैये का अभिमान जाता रहा। वह समर्थजी का परम भक्त बन गया। इस संगीत सभा से शिवाजी राजा भी विशेष प्रभावित हुए।

## जीवन संगीत का अनूठा दृश्य

गुणज्ञ शिवाजी राजा की कीर्ति सुन कुंमकोणम् का एक गवैया अपनी सेवाएं समर्पित कर गौरव पाने के उद्देश्य से शिवाजी राजा के पास एक बार पहुँचा। शिवाजी बड़े आनन्द के साथ उससे

मिस और उसकी इच्छा के अनुसार उन्होंने गिने चुने दरबारी और समय शिष्यों की एक संगीत-सभा आयोजित की। गवैया बड़ा निपुण था। अपने संगीत के साथ दर्शकों के जीवन में भी वह संगीत भरता था। उसकी हर तान और हर सम पर श्रोता-मण्डली वाह-वाह की ध्वनि से सभा-मण्डप निनादित करती थी। वाह वाह 'बहुत खूब' की ध्वनियाँ इतनी बढ़ने लगीं कि संगीत का अनुष्ठान कुछ विफल-सा होने लगा। संगीत-सभा की इस अवस्था को देख समर्थजी चिढ़ गए। जब एक गीत समाप्त हुआ तो समर्थजी ने श्रोतृवृन्द को यह आदेश दिया कि जो कोई गायन के बीच वाह-वाह या बहुत अच्छा के शब्दों को उच्चारित करेगा उसे कड़ा दण्ड दिया जाएगा।

इस आदेश को सुन गायक और श्रोताओं में खिंचाव रेखा खिंच गई। श्रोतागण मन-ही-मन अथवा अपनी आँखों गरदनों या हाथों के इशारों से अपने मानसिक आनन्द का व्यक्त करने लगे। गवैया सभा हुआ था। वह अपने-आप में लीन संगीत के आनन्द से विभोर हो उठा था।

सामने ही एक शास्त्री बैठे थे। वे भी संगीतज्ञ थे। एक बार तिताले के गीत ने जब सम पर अपने पद को स्थिर कर आगे की ओर बढ़ना चाहा तब वे शास्त्री बुआ अनायास 'वाह-वाह' कह उठ खड़े हुए। उनकी उस हरकत से सभा में सन्नाटा छा गया। रक्षकों ने शास्त्री बुआ को पकड़ आदेशानुसार समर्थजी के सम्मुख उपस्थित किया।

जब शास्त्री बुआ पर अभियोग आरोपित हुआ तब वे बोले, 'यह सत्य है कि मैंने आज्ञा का भंग किया है। परन्तु मैं लाचार

हूँ। संगीतमय उस 'सम' की लय और एकरूपता से मैं अपने आप को रोकने पर भी असमर्थ हो गया। 'सम' आत्मानन्द को मैं पा चुका हूँ। संगीत के अनूठे रंग में रंग अपने आप को खो चुका हूँ। अब आप मुझे चाहे जो दण्ड दे सकते हैं।

शास्त्री बुआ का यह भाषण सुन स्वयं समर्थजी और शिवाजी बड़े प्रसन्न हुए। संगीत के अनूठेपन का प्रभाव दर्शकों को दिखा उन्होंने गवये के साथ-साथ शास्त्री बुआ का भी यथोचित सत्कार किया।

अनंतर जो संगीत-सभा हुई वह अलौकिक तो थी ही, अतवर्य भी हो गई।

## शिवाजी राजा की परीक्षा

समर्थजी सब को परख लेते थे। छोटा-बड़ा, ब्राह्मण-शूद्र दौलतमंद-गरीब या हिन्दू-मुसलमान—यह भेदाभेद व नहीं मानते थे। आयु और ज्ञान के परिमाण को लक्ष्य कर ही परीक्षा होती थी। कार्यक्षमता में किसी प्रकार का अंतर न हो इसीलिए समर्थजी के सहवास में रहने वाले को अनेक बार समय-असमय पर परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना पड़ता था जिससे समर्थजी अपने अनेक विविध कार्य सुचारु रूप से चला सकते थे।

जीवन मृत्यु के भय से मुक्त हुए बिना शिवाजी राजा प्रजा-हित-दक्ष नहीं हो सकते—इस भूमिका के आधार पर समर्थजी ने एक बार बीमारी का बहाना किया। शिवाजी राजा ने राजवैद्य के द्वारा अनेक उपाय करवाए फिर भी समर्थजी की कराह दूर न हो सकी। समर्थजी का बेचैन देख शिवाजी राजा दुःखी हुए।

न्होंने पूछा, "गुरुदेव, आपकी बीमारी बहुत बढ़ गई है। क्या सका कोई भी इलाज नहीं है?"

समर्थजी बोले, "है क्यों नहीं? लेकिन वह प्राणलेवा है। सीलिए मैं किसी से नहीं कहता।"

शिवाजी बोले "चाहे कितना भी भीषण क्यों न हो मुझे बत-लाइए। मैं अवश्य वह उपचार करूंगा।

समर्थजी बोले, "मेरे पेट का दर्द केवल शेरनी के दूध से दूर हो सकता है।



रात्रि का समय होने पर भी समर्थ के आदेश को पा शिवाजी शेरनी का दूध लाने के लिए पहाड़ी गुहाओं की ओर रवाना हुए

जैसे ही एक गुहा के द्वार पर वे पहुँचे वैसे ही अपने शावकों के साथ विश्राम लेने वाली शेरनी उन पर झपट पड़ी। शेरनी की झपट से शिवाजी जमीन पर गिर पड़े। शिवाजी को विश्वास था कि समर्थजी की कृपा से मृत्यु मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकती। वे केवल 'श्री राम जय राम जय जय राम' का जप करने लगे।

कदाचित् शेरनी यह समझ गई होगी कि शिवाजी राजा मर चुके हैं या उसके लिए यह वध अनावश्यक है इसलिए शिवाजी बच गए। जब वह शेरनी अपनी गुहा में लौटी तब शिवाजी ने गुहा में प्रवेश किया और उसे पुचकार कर वे दूध दुहने लगे। शेरनी भी गौ की भाँति चुपचाप खड़ी रही। जैसे ही शिवाजी ने दूध पाया वैसे ही वायुवेग से वे इसलिए लौटे कि जल्द से जल्द उपचार कर गुरुदेव को आराम पहुँचाऊँ।

शिवाजी का यह साहस देखकर समर्थजी को विश्वास हुआ कि धर्म से जीने वाले और शान से मरने वाले शिवाजी हैं। इनसे अवश्य ही जनता का कल्याण होगा।

## बहुरत्ना वसुंधरा

वाराणसी में सदाशिव शास्त्री येवलेकर नामी एक दशग्रंथी ब्राह्मण रहते थे। उन्होंने सारे उत्तरी भारत के ब्राह्मण पंडितों को जीत लिया था। जब वे दक्षिण प्रांत की यात्रा के लिए निकले तब महाराष्ट्र में प्रवेश कर उन्होंने जाना कि सज्जनगढ़ में एक विद्वान और प्रभावी साधु रहते हैं। उन्हें शास्त्रार्थ में पराजित कर विजय-पत्र प्राप्त करना चाहिए। वह प्रथम शिवाजी राजा के पास पहुँचे और अपना मतव्य प्रकट कर अपने साथ शिवाजी

राजा को समर्थजी के पास ले आए।

समर्थजी ने राजा के साथ विद्वान ब्राह्मणों को देख अभिवादन किया और यथास्थान बैठने की प्रार्थना की। परन्तु सदाशिव शास्त्री मचान जलाए खड़े ही रहे। समर्थजी का बरताव देख उन्हें क्रोध आया। जब समर्थजी को इस बात का पता चला कि ये दशग्रंथी ब्राह्मण हैं और शास्त्रार्थ करने के लिए पधारे हैं तब उन्होंने इन्हें सम्मानपूर्वक बिठाना चाहा। परन्तु सदाशिव शास्त्री अपमान से क्रोधित हुए थे। उन्होंने कहा, "शास्त्रार्थ में जब तक आपको पराजित न करूंगा तब तक मैं बैठ नहीं सकता।"

समर्थजी बोले 'क्षमा कीजिए। मुझे मालूम न था कि आप काशी के निवासी हैं और दशग्रंथी ब्राह्मण हैं। आप यदि बिना वाद विवाद के बैठना पसंद न करेंगे तो हममें से कोई भी आपसे विवाद करने के लिए तैयार होगा। जय-पराजय के हम प्यासे नहीं हैं। शास्त्र में नैपुण्य पाने की अपेक्षा हम धर्म-कर्म में लीन रहने को अधिक महत्त्व देते हैं।'

यह कहकर समर्थजी ने एक भेड़ को बुला लिया जो प्रतिदिन लकड़ियां देकर सज्जनगढ़ की रोटियों पर पलता था। समर्थजी की आज्ञा के अनुसार द्वैत-अद्वैत-ब्रह्मज्ञान आदि विषयों पर उसने शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थ कर चुकने पर समर्थजी ने सदाशिव शास्त्रीजी से प्रार्थना की कि वे अब पूर्व पक्ष के अधिकारानुसार भेड़ के मतों का खंडन करें। पर एक भेड़ के द्वारा पराजित शास्त्री पूर्व पक्ष का विस्तार करने में असमर्थ रहे और एक भेड़ से पराजित होने के कारण अपनी जबान काटने पर उतारू हुए।

समर्थजी ने उन्हें पकड़कर कहा कि भाई, यह भूमि बहुरत्न

वसुधरा है यहाँ की प्रत्येक वस्तु अपनी अपनी योग्यता के अनुसार नर्वश्रेष्ठ है। किसी वस्तु को अधिक महत्त्व देना और किसी



का कम यह उचित नहीं है। जय और पराजय की भूमि से उठकर धमक्षेत्र की आधार भूमि पर चलना चाहिए इसी में जीवन की माधुरी है—सार्थकता है।

समर्थजी का उपदेश सुन सदाशिव शास्त्री उनके महान भक्त बने।

हमें इस बात को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि सहवा म मनुष्य सत्त्वशील और ज्ञानी बनता है। भेद होने पर

सज्जनगढ़ के समर्थ मठ में सम्प्रदाय स्थापित होने के कारण वह यह शास्त्री हो गया था। कहते हैं कि वहाँ का कुत्ता भी ज्ञानी होता है।

## समर्थजी की शरण में भैरोबा

हिन्दुओं की कमीन जाति में भैरोबा नामी देवता का बहुत बड़ा महत्त्व है। ग्रन्थों के अनुसार प्रत्येक पंथ ने अपनी अपनी प्रवृत्तियों का लक्ष्यकर अलग-अलग देवता गढ़े हैं। क्योंकि पूजने की प्रवृत्ति अधिक मात्रा में हिन्दुओं में पाई जाती है। फिर वह पूजन किसी का क्यों न हो।

सज्जनगढ़ में जब राममंदिर बनवाने की बात समर्थजी ने तय की तब उसके लिए श्मशान के पास का स्थान चुना गया जहाँ भैरोबा का मंदिर था। समर्थजी प्रभु रामचन्द्रजी को सर्वश्रेष्ठ देवता मानते थे और उनके आदेश पर ही चलते थे। उन्हें यह मालूम था कि भैरोबा उस नैवेद्य को अधिक पसंद करते हैं जो बकरियाँ मुर्गे काटकर बनाया गया हो। कदाचित भक्तों ने ही इस नैवेद्य को सर्वश्रेष्ठ समझ लिया होगा जो उनकी अपनी निजी प्रवृत्ति को भाता था।

कुछ भी हो भैरोबा और उसके भक्तों के आचरण से समर्थजी चिढ़ गए थे। जब राममंदिर का शिलान्यास हुआ तब भैरोबा के अनेक भक्तों ने समर्थजी से यह प्रार्थना की कि भैरोबा देवता बड़े कड़े होते हैं। अतः उनकी मर्यादा को जानकर मंदिर का अहाता छोड़ राममंदिर की स्थापना की जाए। भक्तों की यह प्रार्थना सुन समर्थजी ने तलवार उठाई और भैरोबा का शिरच्छेद करने के

लिए वहीं पहुँच गए। भैरोबा ने कहने लगे "तुम स्वयं हिंसाचारी हो और अपने भक्तों को भी हिंसाचारी बनाते हो। इस जगत में



तुम्हारा अस्तित्व बहुत खतरनाक है। तुम्हें मरना ही होगा।'

यह कहकर समर्थजी ने उस मंदिर की मूर्ति काटकर उसके ईंट-पत्थरों को भी उठाकर फेंक दिया।

लोग आश्चर्यचकित हुए और समर्थजी की सामर्थ्य को देख नतमस्तक भी हुए। लोगों ने यह अनुभव किया कि भैरोबा समर्थ जी पर प्रसन्न हुए हैं और उन्होंने ही राममंदिर की स्थापना में योग दिया है। वे रामस्वरूप हो गए हैं।

कुछ भी हो पर वह स्थान राममंदिर के लिए बहुत उपयुक्त सिद्ध हुआ। आज भी राममंदिर वहाँ मौजूद है और सम्मिलित हिन्दू परिवार वहाँ पहुँचकर बड़ी धूमधाम के साथ रामनवमी का उत्सव मनाते हैं।

जय जय रघुवीर समर्थ !

० ० ०

परिशिष्ट

# भारतीय संस्कृति की देन

भारतीय संस्कृति स्मरणातीत काल से ऐसे मनीषियों को जन्म देती चली आ रही है जिनके बल पर आज भी यह संस्कृति अजर और अमर है और अपना सनातनत्व सिद्ध कर रही है। उनमें से जिन महाभागों ने धर्म, समाज और राष्ट्र के कार्य में विशेष योग चढ़ाकर हिन्दू समाज के अविभाज्य संगठन को बनाए रखा वे अवतारी पुरुष सिद्ध हुए और शेष सांस्कृतिक जीवन को गढ़ते रहे। चाहे वे मशहूर हों या न हों पर यह सत्य है कि ऐसों के बल पर ही हमारा सांस्कृतिक जीवन गढ़ता मुड़ता और बढ़ता गया है। जीवन के इन तीनों अंगों का समयानुकूल यथोचित भरण पोषण जिस प्रकार समर्थ रामदासजी ने किया है उसी प्रकार की क्षमता समर्थ शिष्य श्रीधर स्वामी में आज हम पाते हैं। त्याग भक्ति, प्रेम, कर्मण्यता तपस्या और ज्ञान के क्षेत्र में हजारों समर्थ भक्तों ने इस बात का अनुभव किया है कि श्रीधर स्वामी में वह झलक है जो समर्थजी में प्रज्वलित थी। श्रीधर स्वामी का जीवन चरित्र अपनी अलौकिकता को लिये व्यक्तिगत संपर्क से समूचे हिन्दू समाज में अब व्याप्त होने जा रहा है। हमारा यह परम सौभाग्य है कि समर्थ के रूप में आज वे हमारे बीच रहकर हमारे जीवन को गतिविधि दे रहे हैं।

सर्वसाधारण समाज किसी में अलौकिक गुणों को पाता है तो उसके चरणों पर केवल माथा धर कर उसे अवतारी पुरुष समझकर यह कहना ही पर्याप्त समझ लेता है कि 'हम तो मामूली मनुष्य हैं, हम किस प्रकार इस क्षमता को प्राप्त कर सकते हैं।' ऐसी बातें कहकर अपने आपको बचाने और दूर भागने की कला हमने आत्मसात की है। परन्तु हम बात को हम नहीं मानते कि अपनी शक्तिभर क्यों न हो हमें भी कर्मठ अर्थात् कार्यक्षम बनना चाहिए। केवल नतमस्तक होकर हाँ में हाँ मिलाने से अकर्मण्यता ने हमारे हृदय में घर कर लिया है। परिणामस्वरूप सज्जनगढ़ जैसे विद्यापीठ हम खोने लगे जहाँ से धर्म समाज एवं राष्ट्रीय आदर्शों के पाठ हम पढ़ते थे। इतना ही नहीं स्वार्थ के कारण इन धर्मपीठों के लिए न्यायालयों की सीढ़ियों तक को घिसने में हम नहीं हिचके। अब सरकारी व्यवस्था के द्वारा इन धर्मपीठों का सुनियंत्रण होने से तथा पीठ व आदर्शों को यथा-योग्य निबाहने की क्षमता प्राप्त होने से कुछ सज्जन इन धर्मपीठों का पुनरुद्धार करने में जुट गए हैं। उन्हीं में से समर्थ भक्त श्रीधर स्वामी हैं।

ठीक यही दशा आद्यगुरु शंकराचार्य के शंकेश्वर पीठ की बनी थी। परन्तु हमारे सद्भाग्य से उस पीठ पर एरंडे स्वामी के दीक्षित होकर आरूढ़ होने से पीठ के पुनरुद्धार की बहुत कुछ संभावना प्रकट हुई है। आद्यगुरु शंकराचार्य के समर्थ शिष्य एरंडे स्वामी स्वयं एम० ए० एल-एल० बी० हैं।

हमें विश्वास है कि भारतवर्ष का हिन्दू समाज ऐसे महानुभावों से शांति और क्रांति के उचित समन्वय का प्रत्यक्ष पाठ पढ़कर आत्मिक जीवन के साथ-साथ भौतिक जीवन को भी संपन्न कर मानवी मूल्यों के स्तर को ऊपर उठाएगा।